UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182699

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

all No. H83.01 P57M Accession No. GH 6210

uthor Yamm, [illegible]

tle [illegible]

This book should be returned on or before the date
st marked below.

मेमना

मेमना

(कहानी-संग्रह)

लेखक
डॉ० सुशीलकुमार फुल्ल
कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर (हिमाचल)

अमर पब्लिशिंग हाउस
बी-7/74, एक्सटेंशन, सफदरजंग एन्क्लेव,
नयी दिल्ली-110029

प्रकाशक : **अमर पब्लिशिंग हाउस**
बी-7/74 एक्सटेंशन, सफदरजंग एन्क्लेव,
नयी दिल्ली-110029

© : सर्वाधिकार सुरक्षित

संस्करण : प्रथम

आवरण : हरि प्रकाश त्यागी

मूल्य : 20.00

मुद्रक : वार्ष्णेय प्रिंटिंग प्रेस
विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-110032

संघर्ष एवं जिजीविषा के प्रतीक
श्री बनारसीदास फुल्ल
को सादर

अनुक्रम

1.	बाहर का आदमी	9
2.	फासला घटा नहीं	22
3.	ताश के पत्ते	27
4.	थका हुआ इंसान	33
5.	मेमना	53
6.	अटकाव	61
7.	अपने-अपने दुःख	76
8.	बढ़ता हुआ पानी	84
9.	अस्वीकार	92

बाहर का आदमी

इतना बड़ा परिवर्तन ! उसने कभी कल्पना में भी नही सोचा था कि क्षण-भर में, रेडियो पर घोषणा-मात्र से इतना बड़ा परिवर्तन हो सकता है। वह गत सत्रह वर्ष से इसी नगर में रहता आया है तथा यही के जीवन में रच-बस-सा गया है, परन्तु एकाएक उसे यह अनुभूति काटने लगी है कि वह यहां का है भी या नही ? वह विवश-सा महसूस करता, परंतु उसका मन हठात् कह उठता, 'मैं यहां का हूं। मैंने अपने जीवन के सत्रह श्रेष्ठ वर्ष यही तो व्यतीत किए हैं। मेरे बच्चों ने इसी नगर मे आखें खोली है। यही उनका पालन-पोषण हुआ है। शिक्षा-दीक्षा सब कुछ इसी नगर से बंधा हुआ है। सब कुछ ही तो, परन्तु यहां के लोग इस बात को स्वीकार करें, तभी न ? द्विविधा की स्थिति में उसका अंतर्मन भी चीत्कार कर उठता।

रेडियो पर राज्य के पुनर्गठन की घोषणा-मात्र से लोगों में अजीब-सी हलचल थी, अजीब-सा उल्लास। बीस लाख लोगों की प्रादेशिकता क्षण-भर में बदल गई थी। उनकी संस्कृति, मातृभाषा, रहन-सहन तथा सभ्यता ने एकदम नया रूप धारण कर लिया था। छोटे-मोटे कवि थे, जिन्होंने मातृभाषा में तुकबंदियां करके जनता का मनो रंजन किया था तथा विशेषतः सत्तावर्ग की चाटुकारिता। मनोज ने भी उल्लास-समारोह मे भाग लिया था। उसे आश्चर्य हुआ कि ये इतने कवि एक दिन में कहां से उग आए ? उन कवियों में एक-दो ऐसे भी थे जो कल तक किसी अन्य भाषा में कविता करते थे तथा आज नए प्रदेश की घोषणा होने पर नई भाषा में। यह उनका दोगलापन है अथवा अवसरवादिता का सफल अनुसरण, वह इस विषय में निर्णय लेने में असमर्थ है।

क्षण-भर में प्रादेशिकता, संस्कृति, मातृभाषा आदि का परिवर्तन निश्चय ही बहुत बड़ा परिवर्तन है।

कभी वह सोचता है कि इतना बड़ा परिवर्तन एकाएक नही हो सकता। प्रत्येक परिवर्तन, लहर, धारा धीरे-धीरे विकासोन्मुख होती है। समय की गति में परिवर्तन का एहसास तभी होता है, जब कुछ टकराकर खनखना जाए या फिर समय के क्षण-क्षण को यदि कुरेदकर देखा जाए तो सभव है उसकी पर्तो में से क्रांति-परिवर्तन के अकुर मिल जाएं।

तब उसने अपने ही संस्थान में किसी उच्च पद के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था। इंटरव्यू से तीन-चार दिन पहले उसने प्रिंसिपल से मिल लेना उचित समझा था। वह लगभग पंद्रह वर्षो से इसी संस्थान मे कार्य कर रहा था, अतः प्रिंसिपल से मिलने में किसी प्रकार का संकोच नही हुआ था।

'तुम्हें इंटरव्यू लैटर आ गया ?' प्रिंसिपल ने पूछा था, हालांकि इंटरव्यू लैटर भेजने का निर्णय करने वाले वह स्वयं ही थे।

'जी हां।' मनोज बोला था।

थोडी देर ओढ़ा हुआ मौन। फिर प्रिंसिपल ने धीमे से कहना आरम्भ किया, 'मनोजजी, आप तो अपने ही आदमी हैं। अतः आपसे क्या छिपाना। स्थानीय लोग अब जागरूक हो गए हैं। बाहर के किसी आदमी को सहन करने के लिए वे तैयार नही हैं। वैसे तुम्हें तो यही का समझा जा सकता है।'

'प्रिंसिपल साहब, मैं गत पंद्रह वर्ष से इस संस्थान में काम कर रहा हूं। फिर स्थानीय और अस्थानीय का प्रश्न कहां उठता है ?' उसकी आवाज मे थोड़ी तल्खी आ गई थी।

'शर्माजी, मैं तुम्हारी राष्ट्रीय भावना को भली-भांति जानता हूं, परंतु समय ही ऐसा आ गया है कि एक प्रदेश का व्यक्ति दूसरे प्रदेश में नौकरी सहज ही प्राप्त नही कर सकता।' प्रिंसिपल साहब थोड़े गम्भीर हो गए थे।

'परन्तु प्रिंसिपल साहब ! मैं तो इसी प्रदेश का हूं। मैंने किसी दूसरे प्रदेश मे तो अप्लाई नही किया।'

'सो मैं जानता हूं, परन्तु तुम्हें शायद पता होगा कि आजकल नेत लोग किसी बात पर मुख्यमंत्री से रुष्ट हो गए है तथा उन्होंने नए प्रदेश क

अभियान चला रखा है। ऐसी अफवाहें सुनने में आ रही है कि प्रधानमंत्री ने उनकी बात सिद्धांत रूप में स्वीकार कर ली है तथा इस चुनाव के बाद कभी भी नए प्रदेश का उद्घाटन हो सकता है।' प्रिंसिपल ने बड़ी ही गंभीर मुद्रा बनाकर कहा।

मनोज को यह अजीब लग रहा था। वह अपने इंटरव्यू के विषय में प्रार्थना करने आया था कि वह थोडा ध्यान रखें और यहा नए प्रदेश की बातें गर्म हो रही है। स्थानीय, अस्थानीय लोगो की समस्या उठ खड़ी हुई। बाहर और अन्दर के आदमी की बात। यह सोचकर वह निराश हो चला था। उसने पूछा, 'प्रिंसिपल साहब, यह तो ठीक है, परन्तु योग्यता के अनुसार भी तो मेरा चांस बनता है?'

'हां-हां, पेपर-क्वालिफिकेशन में तो तुम बहुत अच्छे हो।'

मनोज के मन में आया कि प्रिंसिपल को गाली दे दे, परन्तु व्यवसाय का ध्यान आते ही वह शान्त हो गया। पेपर-क्वालिफिकेशन में तो तुम बहुत अच्छे हो—मन ही मन मनोज ने प्रिंसिपल के शब्दों को दोहराया। उसका मन प्रिंसिपल के मुंह पर एक झापड़ देने का हुआ।

'शर्माजी, यदि बुरा न मानें तो स्पष्ट कह दूं। एक व्यक्ति तो सस्थान के निदेशक-संचालक की सिफारिशी चिट्ठी लाया है। दूसरे दो व्यक्ति इसी नगर से अथवा इसी क्षेत्र से कह लो। अतः चौथे नम्बर पर मैं तुम्हारी सिफारिश कर सकता हूं।' प्रिंसिपल ने बडी आत्मीयता से कहा था।

'जी आपकी बड़ी कृपा होगी। मेरे अधिकारों की रक्षा आपके अतिरिक्त और कौन कर सकता है?' कहकर वह चला आया था।

प्रिंसिपल से मनोज का जो वार्तालाप हुआ था, उससे वह अशान्त हो उठा था। यद्यपि प्रिंसिपल ने प्रत्यक्षः कुछ विशेष नहीं कहा था, परन्तु जो कहा था, वही क्या कम था? प्रिंसिपल के विषय में उसकी जो धारणा थी, वह खंडित होने लगी थी। इतनी बड़ी शिक्षा एवं शोध-संस्था का अध्यक्ष ऐसी टुच्ची बातें कर सकता है, उसने कभी सोचा भी नही था।

प्रदेश का विभाजन अभी हुआ नही, परन्तु लोगों के मन पहले से ही विभाजित हो गए। हो नही गए, कर दिए गए हैं। ऐसा करने वालों से कोई पूछे, राष्ट्र प्रमुख है अथवा प्रदेश? उसकी आंखों के आगे सरदार

पटेल की आकृति उभर आई। छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर बड़े राज्यों का संगठन दूरदर्शिता का परिचायक था, परन्तु आज लगता है, सरदार पटेल का वह भागीरथ प्रयत्न व्यर्थ हो गया। यदि राज्यों के पुनः टुकड़े करने ही थे तो कहीं अच्छा होता कि स्वतन्त्रता के समय ही राज्यों के गठन का कार्य न किया जाता। सभी राज्य अलग-अलग टुकड़ियों की भांति बने रहते तथा टुकड़ियों में बनी राष्ट्रीयता की भावना भी वैसे ही पनपती, वैसा ही रूप लेती। परन्तु नहीं, प्रादेशिकता की अपेक्षा राष्ट्रीय भावनात्मक एकता की राष्ट्र को कहीं अधिक आवश्यकता है, मनोज सोच रहा था।

इस बात को स्वीकार करने में वह अपने-आपको असमर्थ पाता था कि वह बाहर का आदमी है। एक दिन मित्र-मंडली में कुछ ऐसी ही बात चली तो उसने कहा, 'मैं बाहर का आदमी वाली भावना को घृणा की दृष्टि से देखता हूं। पता नहीं यह स्थानीयता की प्रवृत्ति कहां से उभर आई है।'

'आप इसलिए घृणा करते हैं, क्योंकि आप बाहर के आदमी हैं।' उस के एक बहुत ही निकट के मित्र ने चुनौती दी थी।

वह तिलमिला उठा था। बोला, 'बेहूदा बात। अभी प्रदेश का विभाजन हुआ नहीं है और यदि हो भी गया तो क्या हमारी राष्ट्रीयता बदल जाएगी? भाषा बदल जाएगी? हम बदल जाएंगे? मैं पूछता हूं, आखिर क्या बदल जाएगा? हम अपने ही घर में बाहर के आदमी हो गए? यह तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग का विचार उसकी कलुषित वास्तविकता का परिचायक है।'

'शर्मा! गाली मत बको।' एक अन्य मित्र का स्वर फूट पड़ा।

'मैं सच कह रहा हूं।' मनोज का कांपता हुआ स्वर निकला।

'वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता।' तीसरे ने कहा।

'आज तुम्हें वास्तविकता याद आई? यह खूब रही। मनु, तुम मेरे स्कूल के सहपाठी रहे हो। याद है तुम्हें, जब हमारे स्कूल में एक बंगाली अध्यापक आया था, तो हम सभी कितने प्रसन्न हुए थे। उसका थोड़ा भिन्न प्रकार का उच्चारण सुनकर हम कितने प्रसन्न होते थे।' मनोज ने अपने मित्र को मनाने के स्वर में कहा।

'शर्मा, उन्नीस सौ पचास की बात और आज की बात में बहुत बड़ा अन्तर है। आज यदि हमें अपने क्षेत्र में, प्रदेश में ही नौकरी न मिली तो दूसरे प्रदेश में किस प्रकार मिल सकती है ? अपने प्रदेश में नौकरी प्राप्त करना सभी अपना अधिकार समझते हैं। यदि किसी को दूसरे प्रदेश में नौकरी मिल जाए तो यह उस प्रदेश की कृपा अथवा उदारता मानी जाएगी। वास्तविकता वास्तविकता है, कोई माने या न माने।' मनोज को मनु की आंखें बदली हुई लगी।

उस दिन शर्मा ने एक असमर्थता का अनुभव किया। अभी प्रदेश के टुकड़े भी नहीं हुए और उन्हें बाहर का आदमी घोषित कर दिया गया। वह इसे मानने के लिए कदापि उद्यत नही थे। आदमी जहां जीवन के पंद्रह-बीस वर्ष व्यतीत कर चुका है, वह उसी स्थान का हो जाता है। यदि वह स्थान उसे अचानक अस्वीकार कर दे, तो उसके अस्तित्व के टुकड़े-टुकड़े होना स्वाभाविक है। बहुत दिनों तक उन्होंने मौन बनाए रखा। वह किसी प्रकार इस संकीर्णता की भावना से अपने-आपको बचाकर रखना चाहते थे। कई ऐसे अवसर भी आते कि उन्होंने स्वयं का विश्लेषण किया। शायद उन्होंने ऐसा इसलिए सोचा, क्योंकि उनका अपना हित-अहित उस भावना से बन-बिगड़ सकता था।

फिर उन्हें बदलते तेवरों का पता चलने लगा था। प्रिंसिपल की बातें समझ में आने लगीं। संस्था न में केवल दो प्रकार के आदमी रह गए थे, बाहर के आदमी एवं स्थानीय आदमी। मनोज अपने-आपको दोनों में से किसी में भी फिट नहीं कर पाए। आदमी आदमी है, वह किसी भी स्थान का हो, किसी भी प्रदेश का हो, वह सोचते, परन्तु उनका कोई समर्थक नही था।

इंटरव्यू का दिन निकट आ गया था। अनेक प्रकार की बातें वायु-मंडल में तैरने लगी थी। बाहर के एव स्थानीय केण्डीडेट्स उसमें भाग लेने वाले थे।

'मनोज समझता है, उसकी नियुक्ति हो जाएगी।' स्थानीय इंटरव्यू देने वाले केण्डीडेट्स में से स्वर मुखरित हुआ।

'साले को प्रिंसिपल ने उल्लू बना रखा है।' दूसरा स्वर था।

'अकादमिक क्वालिफिकेशन में तो उसे कोई बीट नहीं कर सकता।' तीसरा स्वर था।

PANJAB UNIVERSITY

'नियुक्ति सुन्दरसिंह की ही होगी। प्रिंसिपल ने प्रचार कर रखा है कि वह विश्वविद्यालय के उपकुलपति का आदमी है तथा संस्था न के सचागक-निदेशक ने भी उसकी सिफारिश की है।' पांचवां स्वर फूटा।

'एम० ए० को छोड़कर सुन्दरसिंह थ्रू-आउट थर्ड डिवीजनर है।' प्रथम व्यक्ति का स्वर पुनः उभरा।

'डिवीजन को कौन पूछता है ?' दूसरे का स्वर था।

'इतना क्या कम है कि उसने एम० ए० तो कर रखी है ! वह प्रिंसिपल की साली का लडका है।' और सब खिलखिलाकर हंस पड़े। तभी मनोज वहां पहुंचे। उन्हें देखकर सब लोग एक बार पुनः खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं। वह कुछ समझ नही पाए। उन्हें अजीब प्रकार की अनुभूति हुई।

'इंटरव्यू कब है ?' एक ने पूछा।

'परसों।' मनोज ने कह दिया।

'इनके बड़े चांसेज हैं।' दूसरे व्यक्ति ने अपना मत प्रकट किया अथवा उपहास किया मनोज का यह बात कहकर।

'यह तो कुछ नहीं कहा जा सकता।' मनोज गंभीर हो गया।

'विश यू वैस्ट ऑफ लक।' समवेत स्वर था।

मनोज उन्हें सशंकित दृष्टि से देख रहा था। जान नहीं पाया, उनमें से कौन मित्र था, कौन नहीं। एक अजीब-सी उलझन में फंसा था। कुछ दिन पहले लोगों की एक धारा थी, अब दो हो गई थीं। एक दरार पड़ गई। यह दरार डाली गई थी वहां के लोगों को नौकरी दिलाने के लिए। तब क्या यहां के लोगों को किसी दूसरी जगह नौकरी देना कानूनन बंद कर दिया जाएगा ? नहीं-नहीं, ऐसा संभव नही। कूप-मंडूक, क्षेत्रीयतावाद नही पनपना चाहिए। वह कराह उठा।

इंटरव्यू से एक दिन पहले उसके हितैषी बाहर के आदमी उसके निवास पर शुभकामनाएं देने पहुंचे। एक ने पूछा, 'मनोज, क्या ख्याल है तुम्हारा ?'

'मैं कुछ नहीं कह सकता।' मनोज का उत्तर था।

'मैंने सुना है, सुन्दरसिंह को ले रहे हैं ?' एक स्वर फूट पड़ा।

'मुझे नहीं मालूम।' मनोज ने निराशा-भरे स्वर में कह दिया।

'हां, उसे तो लेंगे ही। वह प्रिंसिपल का बेटा जो है।' दूसरा स्वर था।

'हां, प्रिंसिपल का बेटा। इस हरामजादे ने जवानी के दिनों में अपनी साली को भी नहीं छोड़ा। यह सुन्दरसिंह उसी से तो है।'

मनोज कुछ नही बोला। उसे ऐसे रिमार्क्स पसंद नही थे। काफी देर तक इधर-उधर की बातें चलती रही। इधर के आदमी, उधर के आदमी; स्थानीय आदमी, बाहर के आदमी। आदमी ही आदमी, विचित्र धांधली, बढ़ता हुआ क्षेत्रीयवाद। ढेर-सी बातो को लेकर मित्र-मंडली ने अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। सबके पीछे एक ही प्रमुख भावना जान पड़ती थी, वह थी असुरक्षा की भावना, अन्याय की संभावना। आपस में बातचीत कर लेने पर उन्हें थोड़ा बल मिलता था, मानसिक शांति भी, टूटन मे कुछ जुड़ता-सा नजर आता था।

हुआ वही, जो होना था। मनोज की नियुक्ति नहीं हुई। सुन्दरसिंह को ही नियुक्त किया गया। मनोज शर्मा को इस अन्याय से धक्का लगा, परन्तु सोच न पाया कि वह किससे शिकायत करे। कहां जाकर न्याय की मांग करे। वह अंदर-ही-अंदर कही खोखला अनुभव करने लगा था। कभी-कभी तो वह अंदर की ज्वाला से धधक-सा उठता, परन्तु कुछ कर पाने की स्थिति मे अपने को न पाकर, परिस्थितियो से समझौता करके रह जाता। अपनी विद्रोही भावना पर काबू पाने के लिए उसे बहुत संयम से काम लेना पड़ता। उसने एक भ्रूण की हत्या कर दी है···भ्रूण की हत्या।

राज्य के पुनर्गठन की घोषणा। घोषणा होते ही इतना बड़ा परिवर्तन। आदमियों का व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त। वे स्पष्टत. एवं निश्चित रूप से दो वर्गों में बट गए। स्थानीय आदमी एवं बाहर का आदमी। लोग अपने ही घर में बाहर के आदमी बन गए।

नया प्रदेश। नई संभावनाएं। चारों ओर उल्लास। जुलूस में अनेक टोपियां उभर आईं। धन्य हैं ये नेता लोग, जो नई-नई संभावनाओं को जन्म देते हैं। प्रदेश के उद्घाटन का दिवस ऐसे मनाया गया जैसे प्रदेश का मुक्ति-दिवस हो। मनोज को नेताओं के भाषणों के कतिपय अंश अब तक याद हैं। एक नेता चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था, 'भाइयो तथा बहनो! भारत को स्वतंत्र हुए पच्चीस वर्ष हो गए, परन्तु आप जानते हैं, आप देख रहे हैं तथा बहुत-से भाइयों ने महसूस भी किया होगा कि अब तक

हमारा क्षेत्र उपेक्षित रहा। इसके पिछड़ेपन में सुधार की अपेक्षा विकृति आई है। अब हमने इसकी बागडोर संभालनी है। अब देखना, इसमें कितना सुधार होता है। हम हर प्रकार से भारत के शेष प्रदेशों से आगे निकल जाएंगे।'

मनोज को हंसी आई थी। उसने अपने मन में सोचा था कि नया प्रदेश बन जाने से साधारण लोगों को कोई लाभ नही होने वाला है, कुछ लोगों को गद्दियां भले ही मिल जाएं। दूसरे नेता ने अपने भाषण मे कहा था, 'भाइयो ! मैं तुम सबको बधाई देता हूं। हमारा संघर्ष सफल हुआ। हमारा विकास तभी सम्भव है, जब प्रत्येक कार्य का विकेद्रीकरण कर दिया जाए। टुकड़े-टुकड़े करने से देश कमजोर नहीं होता। इससे प्रत्येक टुकड़ा अपने-अपने ढंग से मजबूत होता है। अपने प्रदेश की सेवा करने का अधिक-से-अधिक लोगों को अवसर दिया जाएगा। जो अश्रु गैस आपने सहन की या जो गोलियां खाई हैं, वे व्यर्थ नही गई। अभी हमें बहुत कुछ करना है। हमें आपका विश्वास चाहिए···।' दूसरा नेता भी लगभग एक घंटे तक इसी प्रकार बोलता रहा था।

मनोज ने सोचा था, 'यह नेता निश्चय ही लोगों को उल्लू बनाने में सफल होगा।'

'मेरे नव-उद्घाटित प्रदेश के वासियो ! मैं तुम्हें किन शब्दों में बधाई दू। मैं तो मात्र इतना ही कहना चाहता हूं कि मैंने आपकी सेवा का प्रण लिया है। आप शायद समझते हों कि मैं यहां का रहने वाला नही हूं, लेकिन नही, आप मेरी कुल-परंपरा को नही जानते। मेरे शरीर की सरचना में इसी प्रदेश की मिट्टी की महक है। मेरे दादा के पड़दादा सन् उन्नीस सौ एक में इसी प्रदेश मे जन्मे थे। आप चाहें तो उस समय के किसी पंडित की पुरानी पोथी पढ़कर देख सकते हैं।

'आप सत्य माने या न मानें, लेकिन मैं स्वप्नों में बहुत विश्वास रखता हूं। कुछ मास पूर्व मुझे स्वप्न में दादाजी दिखाई दिए थे। उन्होंने मुझसे कहा था, बेटा ! तुम्हें अब तक महान् नेता बन जाना चाहिए था। शायद तुम्हें अवसर नही मिला। अब तुम तैयार हो जाओ। तुम्हारा मातृ-प्रदेश तुम्हें बुला रहा है। लोगों की भलाई में ही तुम्हारी भलाई है। उस स्वप्न

के तुरंत बाद मैंने आपके प्रदेश में लोक-सेवा का प्रण ले लिया।' यह कह-कर तीसरा नेता बैठ गया था। लोग खिलखिलाकर हंस पड़े थे। मनोज जानता था कि वह नेता महोदय अपने प्रदेश की राजनीति मे कई बार पिट चुके थे। जब संयुक्त प्रदेश की राजनीति में उन्हें अधिक स्कोप की संभावना न रही, तो उन्होंने दूसरी छलांग लगाई।

मनोज को सब अजीब लगता थे। ये राजनीति के बदले हुए दांव-पेच, गिरगिट के से रंग। प्रदेश में एकाएक अनेक नेता उग आए थे, जैसे रात्रि-भर के समय में अनेक छत्रक अचानक उग आए हों। उसे याद था कि स्वप्न बघारने वाले नेता ने जो अजीब नारा दिया था लोगों को, वह उसके अपने पैर जमाने का यह अचूक फार्मूला था। नारा था, बाहर के आदमी बाहर करो। नारे से सभी लोग प्रसन्न थे। भय था तो केवल बाहर के लोगों को। बाहर के लोग···मनोज सोचकर कांप उठता। सत्रह वर्ष एक स्थान पर रहने पर भी कोई बाहर का आदमी ही कहलवाता रहेगा···अच्छा···।

मनोज प्रसन्न थे कि उनके पुत्र ने इसी वर्ष प्री-मेडिकल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। किसी जमाने में उनकी स्वयं बड़ी इच्छा थी कि डाक्टर बनकर रुग्ण जनता की सेवा करें, परंतु ऐसा सम्भव नही हो सका था। अतः राजीव के माध्यम से उनकी इच्छा पूर्ण होती दिखाई दी।

प्रदेश में नया मेडिकल कालेज खुला। बहुत-से विद्यार्थियों को पहले दूर-दूर के स्थानों पर स्थित कालेजो मे ही प्रवेश मिल पाता था। ये विद्यार्थी प्रायः धनी होते थे, जो दस अथवा पंद्रह हजार रुपए डोनेशन दे कर एक सीट खरीद सकते थे। अब मनोज को ऐसा कोई भय नही था। उनके पास इतना पैसा भी तो नही था कि वह डोनेशन दे सकते। राजीव को नए कालेज में सीट मिल ही जाएगी, सोचकर वह खिल उठे थे।

उनका यह भ्रम भी अधिक दिन बना नही रह सका। सबसे पहले कठिनाई मेडिकल कालेज के लिए राजीव के आवेदन-पत्र को अटेस्ट करवाने में आई। उसमें एक प्रमाण-पत्र देना था। स्थायी निवास-स्थान के बारे में तथा यदि कोई नए प्रदेश का स्थायी निवासी नही था, तो उसे डोमिसाइल सर्टीफिकेट देना था।

शर्माजी ने इस नगर में कोई सम्पत्ति नहीं बनाई थी। नौकरी में बन

ही कैसे सकती थी। अतः सत्रह वर्ष से इस नगर में रहने पर भी वह स्थायी निवासी नहीं माने जा सकते थे। अब एक ही चारा था कि वह डोमिसाइल सर्टीफिकेट लें। उन्हें यह प्रमाणित करवाना था कि वह नए प्रदेश में लगातार तीन वर्ष अथवा इससे अधिक समय से रहते आ रहे हैं।

दीनानाथ नगरपालिका के सदस्य थे तथा वर्षों से उनका शर्माजी से मेल-जोल था। शादी-ब्याह, त्योहार आदि पर आना-जाना भी था। शर्मा जी तुरंत उनके पास पहुंचे और उन्हें अपनी आवश्यकता बतलाकर सर्टीफिकेट कापी उनके सामने रख दी।

'अरे, तुम्हारा काम नहीं करेंगे तो किसका काम करेंगे।' कहकर दीनानाथ हस्ताक्षर करने लगे, परंतु कुछ शब्द पढते ही उन्होंने रुककर शर्माजी की ओर आश्चर्य से देखा।

'अरे, यह तो डोमिसाइल सर्टीफिकेट है। यह प्रमाण-पत्र मैं बिना प्रमाण के कैसे दे सकता हूं ?' दीनानाथ ने पैंतरा बदलते हुए कहा।

'तो यह नहीं कर सकेंगे आप ?' शर्माजी ने पूछा।

'मैं अपने दोस्त के लिए क्या नहीं कर सकता, परंतु मेरी बात मानो। अपनी संस्था से एक प्रमाण-पत्र ले आओ कि इतने वर्षों से आप यहां नौकरी कर रहे हैं।'

'क्या आप नहीं जानते मुझे ?' मनोज शर्मा ने पूछा।

'मैं तो जानता हूं और तुम्हारे लिए कुछ भी कर सकता हूं, परंतु अच्छा तो यही रहेगा कि तुम संस्था से प्रमाण-पत्र ले लो। फिर मेरे साथ कचहरी चलो। वहां क्षण-भर में तुम्हारा काम करवा दूंगा।'

मनोज शर्मा को आश्चर्य हुआ। मन-ही-मन एक कुढ़न भी हुई। वह इतने वर्षों से वहीं है, परंतु अब प्रदेश का विभाजन हो गया है तथा स्थान वही होते हुए भी नाम बदल गया है। नियम बदल गए हैं, मनुष्य मनुष्य की सीमाएं एवं अधिकार अलग-अलग हो गए हैं। देश एक ही है, प्रदेश उसी के अंग हैं, परंतु आदमी दो तरह के—बाहर के आदमी एवं अंदर के आदमी। अजीब उलझन है। कोई नहीं समझ पाता, कोई समझना भी नहीं चाहता। आम आदमी की अनुभूति अनुभूति नहीं होती। नेताओं एवं सरकार के पास छोटे-छोटे मामलों के लिए कोई समय नहीं। अजीब उलझन है।

अनमने-से शर्माजी ने संस्था से प्रमाण-पत्र लिया तथा अपने मित्र के पास पहुंचे और फिर वही टालमटोल ।

'शर्माजी, मैं टेलीफोन कर देता हूं । तुम्हारा काम हो जाएगा ।'

'अच्छा ।' शर्माजी पहले की भांति जोर देकर नहीं कह सके ।

कचहरी में उनका काम तो हो गया, परतु बाबुओं ने जी भरकर दौड़ाया । दौड़ने से भी वह नही घबराए, परंतु कचहरी के सदस्यों की बात-चीत, जो वस्तुतः शर्माजी को ही सुनाने के लिए की गई थी, वह उन्हें कहीं बहुत गहरे काट गई थी ।

'साले चले आते हैं दूसरों का हक मारने ।' एक स्वर था ।

'कोई स्थानीय व्यक्ति मारा जाएगा ।' दूसरा स्वर था ।

'पता नही ये लोग कब वापस जाएंगे ।' तीसरा स्वर फूटा ।

'साले हमारे प्रदेश का पैसा अपने प्रदेश में ले जाते है ।' चौथा स्वर ।

शर्माजी ने मन-ही-मन उन लोगों पर थूक दिया । इतना बड़ा परि-वर्तन !

क्षण-भर में लोगों की प्रादेशिकता, प्रतिबद्धता एव निष्ठा बदल सकती है । शर्माजी इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे, परंतु उन्हीं के साथ प्रतिदिन जो घटता है, उसे वह कैसे नकार दें । हर बात मे, हर प्रकार से घृणा से भरी आंखें उनकी ओर उभरी रहती । कही से सहानुभूति के शब्द भी आते, तो बाद में शर्माजी को पता चलता कि यह तो उनसे कुछ उगल-वाने का प्रयत्न मात्र था । उन्होने कई बार सोचा है कि अब वह किसी से मन की बात नही कहेंगे । जो कुछ भी, कभी भी उन्होंने अपने मित्रों तक से भी कहा है, वह भी अधिकारियों तक अविलम्ब पहुंचता रहा है । उस दिन जरा-सी बात ने उन्हें परेशान कर दिया था ।

'तुम्हारी नियुक्ति हो जानी चाहिए थी ।' एक स्थानीय व्यक्ति ने सहा-नुभति जताई थी, हालांकि उस बात की मृत्यु हुए तीन वर्ष हो चुके थे ।

'मैं भी यही सोचता था ।' शर्माजी ने कह दिया ।

'बहुत अन्याय हुआ ।' उसने उन्हें कुरेदने का प्रयत्न किया ।

'न्याय होता ही कहां है ? सब जगह भाई-भतीजावाद चलता है । यहां मेरे जैसे आदमी का अस्तित्व ही क्या है ?'

'कोई तुम्हारी ओर आंख उठाकर तो देखे।'''थोड़ी गड़बड़ बाहर के आदमियों की ही पैदा की हुई है। कोई बाहर से आकर यहां रहना चाहता है, तो आदमी बनकर रहे। स्थानीय व्यक्तियों को दबाने का प्रयत्न सफल नहीं होने दिया जाएगा।'

शर्माजी चुप थे। वह उन्हीं को भड़काना चाहता था। न चाहते हुए भी उनसे इतना कहे बिना न रहा गया, 'भाई, बाहर या अंदर के आदमी की बात निरर्थक है। कोई किसी अन्य प्रदेश अथवा स्थान का है, इसी-लिए बुरा नहीं समझा जाना चाहिए। हर स्थान पर बुरे एवं अच्छे लोग होते हैं।'

'शर्माजी, क्या घटिया बात कह दी आपने। यदि बाहर के आदमियों को नौकरियों से निकाल दिया जाये तो देखो, हमारे प्रदेश के लगभग सभी बेरोजगारों को नौकरी मिल सकती है। इसका अर्थ होगा, छोटी उमर में बड़े पद।'

'इसका अर्थ तो यह हुआ कि इस प्रदेश के जो लोग भारत के अन्य प्रदेशों में नौकरी कर रहे हैं, उन सबको भी वहां से निकाल दिया जाए। यह तो बड़ी अजीब एवं भयंकर समस्या उत्पन्न हो जाएगी।' शर्माजी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया, परंतु वह तर्क से विमुख हो चुका था। उन का मन बहुत अशान्त हो गया था, क्योंकि बहुत-सी बातें अनकही रह गई थीं।

दूसरे ही दिन प्रिंसिपल ने मनोज शर्मा को अपने दफ्तर में बुला लिया था। उनके दो-तीन चहेते व्यक्ति वहां पहले ही बैठे थे। शर्माजी को हैरानी हुई थी। प्रिंसिपल ने कहा था, 'आपको ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। इतने पुराने आदमी होने पर भी न तो आप मेरे प्रति तथा न ही संस्था के प्रति निष्ठावान हैं।'

'मैंने तो कुछ नहीं किया।' शर्माजी ने कहा था।

'प्रतिदिन स्थानीय आदमियों को गालियां निकालते हो और कहते हो कि तुमने कुछ नहीं किया।'

'यह झूठ है।' मनोज शर्मा उद्विग्न हो उठे थे।

'इनसे पूछिए। ठाकुरजी ने मुझे यह सब बताया है।'''हर बात पर

विष उगलते हो। तुम्हें लज्जा आनी चाहिए।'

•'लज्जा तो उन लोगों को आनी चाहिए जो बाहर एवं अंदर के आदमी कहकर दो वर्ग बनाकर राष्ट्र के साथ द्रोह करके अपनी स्वार्थसिद्धि कर रहे हैं।' मनोज शर्मा के मुख से ज्वाला फूट पड़ी।

'शर्माजी ! बाहर का आदमी बाहर का ही आदमी रहेगा और स्थानीय आदमी स्थानीय।' प्रिंसिपल ने भी उग्र होकर कहा।

'लेकिन हैं तो दोनों आदमी। और वे भी एक ही राष्ट्र के।' शर्मा क्रोध में बोल रहा था।

'बंद करो बकवास ! हमें राष्ट्रवाद सिखाते हो तुम ! बड़े आए राष्ट्रवादी बनकर। यदि फिर कभी प्रदेश के सम्मान के विरुद्ध कहा तो ··।' प्रिंसिपल त्योरी चढ़ाकर बोला।

'मैं जानता हूं, आप अधिक-से-अधिक क्या कर सकते हैं।' यह कहकर वह दफ्तर से बाहर आ गए।

प्रिंसिपल तिलमिलाकर रह गया।

फासला घटा नहीं

वह पहली बस से चला था सुबह पांच बजे। टिकट लेते समय क्षण-भर के लिए वह हिचकिचाया। उसने सोचा, सीधा शिमला का टिकट ले या बिलासपुर रुक जाए। उन्हें देख भी लेगा, परंतु फिर एकाएक शिमला का टिकट ले लिया।

उसे अपनी मनःस्थिति पर क्षोभ हुआ था। जब उसने लिखा ही नहीं, न ही कभी कोई उत्सुकता दिखाई, तो वह क्यों बिना बुलाए चला जाए! भाई हुआ तो क्या? उसने कौन-सा भाई का धर्म निभाया है। वह नहीं रुकेगा, कभी नहीं। वह पैसे वाला होगा तो अपने लिए। कौन किसी को कुछ देता है। सब अपने-अपने परिवार में लीन रहते हैं, रिश्ते-नाते पीछे छूट जाते हैं। गृहिणी घर आई नही कि मां-बाप, भाई-बहन सब व्यर्थ हो जाते हैं। अपना ही खून पानी हो जाता है। गलती तो उसकी ही है, उसने सोचा।

वह खिड़की में से उभरते-सरकते, फैलते पहाड़ों की शृंखलाओं को निहार रहा था। भले-भले से मासूम से पहाड़, जिनमें कोई छल-कपट नहीं, कोई घृणा नहीं। सबको स्वीकार लेना ही मानो उनका धर्म है। अपनी छाती पर नये-नये पेड़-पौधों को उगते, लहलहराते देखकर हर्षित होना··· नाचना-झूमना···कितना भला लगता है! उसने भी तो पर्वत की ही भांति अपने नन्हे-मुन्ने बहन-भाइयों को आगे बढ़ते देखने का स्वप्न संजोया था, माधव ने सोचा। इस ध्येय में उसे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली थी। राघव की ही बात लो। गांव की जमीन बेचकर उसे पढ़ाया-लिखाया था। अब वह बिलासपुर में इंजीनियर के पद पर लगा है। खूब पैसे

कमाता है। ठाठ से रहता है। ठाठ से रहे, यह तो अच्छा ही है; परन्तु सबको विस्मृत कर दे, यह कहां की अच्छाई हुई ! बिना संबंधों के भी कहीं जीवन चलता है ! मां-बाप तो मां-बाप ही हैं। विवाह से पहले मां-बाप के विषय में कहता था, 'मां-बाप मंदिर के भगवान् हैं। शादी हो जाए, फिर जितनी सेवा करूं, थोड़ी होगी। फिर मैं इन्हें गदियाड़ा में नहीं रहने दूंगा। यहां न खाने का ढंग, न रहने का। कोई बीमार हो जाए तो·· तो कितनी मुसीबत है। डाक्टर भी नहीं मिल सकता।'

माधव हर्षित हो जाता था यह सुनकर, भाव-विभोर। आज के युग में मां-बाप के प्रति ऐसा भक्तिभावपूर्ण दृष्टिकोण पाकर वह अपने छोटे भाई राघव को देखता ही रह जाता था। वह उससे कहता, 'राघव, क्या भाई और भावज को नहीं रखोगे अपने पास ?'

'वाह ! क्या खूब कही आपने भय्या ! मां-बाप मंदिर के भगवान् हैं तो भाई-भाभी भगवान् के साथ रहने वाले देवी-देवता।' राघव ने आस्थावादी स्वर में कहा था।

माधव सारे गांव में अपने भाई के सद्विचारों का ढिंढोरा पीटता रहता था, गुणगान करता रहता था। उसकी अपने मां-बाप और भाई-भावज में श्रद्धा-भक्ति देखकर गांव के लोग चकित रह जाते थे। सब उसकी प्रशंसा करते थे।

नौकरी लगने के बाद जब पहली बार राघव घर आया था, तो परिवार के सब सदस्यों के लिए कुछ न कुछ उपहार लाया था। भाई के लिए एक बढ़िया-सा पट्टू, जिसे भय्या बस्ती में सबको दिखाता फिरा था। वह पट्टू अब भी उसके बैग में था। शिमला में ठंड अधिक थी ना। क्या पता वहां राम मिले या न मिले। वह न मिला तो उसे कहीं इधर-उधर टिकना पड़ेगा। राम दूर के रिश्ते में उसका भाई लगता था। वह जब भी शिमला जाता तो उसके पास ही ठहरना पड़ता था। वह कहीं और जाने ही नहीं देता था। माधव पहुंचता नहीं कि राम चाय बनाता, चावल-दाल तैयार करता, उसे खाना खिलाता और फिर माल रोड पर घुमाने ले जाता। कितना अच्छा था वह, कितना प्रेम-भाव दिखाता था। उसे देख लेता तो उसकी आत्मा खिल उठती थी।

ऐसे ही एक बार शिमला जाते हुए वह बिलासपुर रुक गया था। राघव के घर में मेहमान देखकर उसे कुछ विचित्र-सा लगा था। अभी शादी हुई नही कि साली साहिबा पहले ही आ धमकी। राघव को भी उस समय उसका आना कुछ अच्छा नही लगा था। उसने उससे दबी जुबान से कहा था, 'आपने आना ही था तो पहले लिख दिया होता। ऐसे ही एकदम चले आए।'

'अपने घर आने के लिए भी क्या पहले से लिखना आवश्यक होता है? तुम गदियाड़ा आते हो तो पहले लिखकर आते हो क्या?' माधव को गुस्सा आया था राघव की बात सुनकर।

'वहां तो मां-बाप हैं।' राघव के मुख से निकला था।

'तो यहां मेरा कोई नही है? घबराओ नही, मैं तुम्हारे पास नही टिकूंगा। मेरे ठहरने के लिए यहां और कई स्थान है। तुम्हे परेशान होने की आवश्यकता नही है।' और माधव अपना थैला उठाकर धनीराम गद्दी के घर की ओर चल दिया था। उसके हृदय पर उस दिन भीषण आघात हुआ था, वह तिलमिला उठा था।

राघव की साली खड़ी-खड़ी मुस्करा रही थी। राघव ने सकुचाकर इतना भर कहा था, 'भय्या! आप यहां रुकते ना! जहां आप जा रहे है, वहां जगह तंग है।'

माधव ने रुककर कह दिया था, 'जगह की तंगी की कोई बात नही, दिल तंग नही होना चाहिए राघव! दिल खुला हो तो स्थान मिल ही जाता है।'

खिसियानी-सी, मरी-सी हंसी हंसते हुए राघव इतना ही बोल पाया, 'भय्या, सुबह आ जाना। मैं प्रतीक्षा करूंगा।'

'तुम अपना काम करो राघव! भय्या की चिंता छोड़ो।' कह वह चला गया था।

वह दिन था और आज का दिन, वह फिर कभी उसके पास नही गया। लेकिन अब तो बात ही दूसरी थी। राघव के घर पुत्र ने जन्म लिया था। पुत्र-जन्म की बात सुनकर माधव गद्‌गद हो गया था। अपने अपमान की बात उसे जैसे याद ही नही रही थी।

बस टेढ़े-मेढ़े पहाड़ों को चीरती हुई घूम रही थी। फासला कम होता जा रहा था। वह सोचने लगा, शायद बस अड्डे पर ही कहीं मिल जाए। शायद किसी को लेने या चढ़ाने आए। यदि आया तो अच्छा ही है। वह उसे देख भर लेगा, उससे बोलेगा नही। ऐसा भी क्या कि भाई को पुत्र-जन्म की सूचना भी न दी। पैसा नही तो क्या है ? भाई-भाई का प्रेम तो है। प्रेम के बिना है भी क्या ? एकाएक उसकी आंखों में चमक आ गयी थी।

बस मंडी से बहुत आगे निकल गयी थी। कब सुंदरनगर आया, उसे पता ही न चला। अब थोड़ी देर में बिलासपुर आ जाएगा। वह शायद अड्डे पर मिल जाए, यही भाव था मन मे। यदि मिल गया तो···तो··· मैं उसे ही पांच रुपये शगुन के पकड़ा दूगा। घर तो जा नही पाऊंगा। अजीब आदमी है। सूचना तक देनी आवश्यक न समझी। घर वालों को एकदम भूल गया। सालियां कब की होकर चली गयी···ये चीज ही ऐसी हैं। आदमी का उल्लू बना देती है। उसने अपनी जेब टटोली। हां, पांच का नोट था जेब में। वह प्रसन्न हो गया। शगुन देने के लिए रुपए थे उसके पास।

अभी बिलासपुर पांच-छः किलोमीटर दूर था। उसने बस की खिड़की खोल ली। ठंडी हवा चल रही थी। बस में बैठी अन्य सवारियों ने खिड़की बंद करवानी चाही। माधव ने बहाना बनाया कि उसे उलटियां आती हैं और उसने वैसा ही अभिनय भी किया। लेकिन वह बड़ी बेताबी से बाहर देख रहा था। बिलासपुर का पुलिस स्टेशन निकल गया, डाकघर भी, बाजार भी, परंतु राघव दिखाई नहीं दिया। बस अड्डे पर जाकर खड़ी हो गई। वह बेचैन हो उठा। इधर-उधर टटोलने लगा···भीड़ में कोई भी परिचित चेहरा उसे दिखाई नहीं दिया। उसने पांच का नोट बाहर निकाला, बड़े ध्यान से देखा। उसे हाथ में ही पकड़े रहा, अपने भतीजे को देने के लिए।

तभी उसे भीड़ में घूमता पांच-छः साल का एक छोटा-सा बच्चा दिखाई दिया, जिसके शरीर पर आधा-आधा इंच मैल जमी हुई थी, पैर नंगे, वस्त्र फटे हुए और गंदगी से चीकट, लेकिन आंखों में एक चमक···

एक जिजीविषा · माधव की इच्छा हुई कि वह नोट अपने भतीजे को न देकर उसे दे दे···भतीजे के नाम पर वह खिल उठा। उसने ज्यों ही नोट उस बच्चे की ओर बढ़ाया···तभी एक पैंटधारी, परन्तु फटी कमीज वाले एक व्यक्ति ने वह नोट छीनकर अट्टहास किया तथा बड़ी-बड़ी आंखों से घूरता हुआ उस पर मुस्कराता रहा···हा···हा···हा···माधव डर गया···फासला घटा नही···बढ़ता ही गया···बढ़ता ही गया।

ताश के पत्ते

चौबारे के दरवाजे पर खड़ी श्रेष्ठा बस स्टैंड की ओर देख रही थी। अड्डे पर कई बसें आईं तथा गईं, परन्तु 'वह' उतरते दिखाई नहीं दिए। उसे लगा मानो वह कुछ ही क्षणों में बूढ़ी हो गई हो तथा उसका यौवन बिखरता चला जा रहा हो।

'बहनजी!' कहकर पडोसिन निकट सरक आई।

'हां।' श्रेष्ठा ने दबी जबान से कहा।

'आपके 'वह' आए नहीं?' पड़ोसिन ने पूछा।

पडोसिन के पूछने के ढंग पर उसे हंसी आई, परन्तु उसका मन बातचीत में उलझने के लिए तैयार नहीं था।

'पहाड़ी रास्ता है।' पड़ोसिन ही फिर बोली।

श्रेष्ठा ने घूरकर उसकी ओर देखा, मानो कह रही हो, परमात्मा के लिए कुछ और अपने मुंह से न निकालना। चुप रहो।

'इधर की बसें भी ऐसी ही होती हैं। क्या पता कहां रुक जाएं! एक बार हमें सारी रात जंगल में काटनी पड़ी थी।' थोड़ी रुककर वह फिर बोली, 'ऐसे में जाते भी कहां?'

'मशीनरी का ब्रेक-डाउन तो कहीं भी हो सकता है और फिर परमात्मा जो भी करता है, अच्छा ही होता है।' इस बार श्रेष्ठा बोली। श्रेष्ठा ने पड़ोसिन को टालने के लिये यह सब कह तो दिया, परन्तु स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो सकी। परमात्मा जो भी करता है, सो अच्छा ही करता है। क्या मनुष्य कुछ नहीं कर सकता या करता? परम्परागत संस्कारों में पली श्रेष्ठा को यह बात अपने-आप में बड़ी अटपटी-सी लगी।

श्रेष्ठा सोच रही थी—शायद मेरा सोचना उचित है—शायद नहीं। मुझे उसी समय ना कर देनी चाहिए थी।

'वह विधुर है ?' श्रेष्ठा की मां ने उसके पिता से पूछा था।

'हां, लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है !'

'कोई बच्चा तो नहीं है ?'

श्रेष्ठा के पिता चुप हो गए थे। कुछ न बोले।

'आप बोलते क्यों नहीं ?'

'एक बच्चा है।' धीमे स्वर में श्रेष्ठा के पिता ने बताया था।

श्रेष्ठा की मां ने एक दीर्घ निःश्वास लिया था, परन्तु यह जानकर कि लड़का बड़ा अफसर है, काफी वेतन पाता है, वह सहमत हो गई थी। श्रेष्ठा से कुछ पूछने का प्रश्न ही नहीं था। उस समय उससे भी पूछ लिया होता तो वह तुरन्त अस्वीकार कर देती। वह स्वयं ही अपना मन बता देती—तब भी अच्छा रहता। मां-बाप की क्षणिक प्रतिक्रिया धीरे-धीरे शान्त हो जाती थी। श्रेष्ठा सोचती है तो अकुलाहट-सी अनुभव करती है।

एक नही, तीन। विवाह के एक दिन बाद ही वह तीन बच्चों की मां बन गई थी। शायद विवाह करवाने के लिए बच्चों को इधर-उधर संबंधियों के यहा भेज दिया गया था।

फिर भी श्रेष्ठा घबराई नही थी। तीनों बच्चों को छाती से सटाकर रखती थी। उन्हें हर प्रकार की सुविधा देती, परन्तु पति के व्यवहार पर उसे आश्चर्य था, आज तक है।

शायद वह अधिक पढ़ी-लिखी नहीं, इसी कारण उसके पति उसकी परवाह नहीं करते। उसकी किसी बात को भी गम्भीरता से नहीं लेते। वह तो कभी उनकी बात को काटती नहीं, कभी कुछ मांगती नहीं। अपने अहं को मिटाकर पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया है उसने, परन्तु उन्हें उसकी हर बात पर क्रोध आता है। हंसी-मजाक में कोई बात कर दे, तो उबल पड़ते हैं। शायद इसमें भी उसका अपना ही दोष है। पालमपुर का पानी ही ऐसा है कि जब तक खाने के बाद थोड़ी सैर न कर ली जाए, भोजन पचता ही नहीं। शायद वह मुटा गई है। उनका शरीर वैसा का वैसा ही बना है। वह सुन्दर लगते हैं, एकदम फुर्तीले। श्रेष्ठा सोचती।

सर्दी उतर रही थी।

श्रेष्ठा कंपकंपा उठी। सामने धौलाधार रेंज पर गिर रही बर्फ उसे अच्छी लगी। मन में आया, उसे निहारती ही रहे। एकाएक वह किचन में गई। अंगीठी में कोयले डालकर अंगीठी बाहर हवा में रख दी। उसका मन आग तापने को हो रहा था।

काश, आज रमेश ही यहां होता, मन में ख्याल आया।

लेकिन बच्चे जवान हुए नही कि अपने-अपने धन्धों में लग गए। रमेश आता है तो घर में हंसी ही हंसी बिखर जाती है।

'मां, मुझे मक्खन दो।' वह कहता।

'तुम्हारे हिस्से का तुम्हें दे दिया।' श्रेष्ठा कहती।

'ऊं हू ! मां, सगी मां जितना दो।' वह शायद शरारत से कहता।

श्रेष्ठा हार जाती। मन-ही-मन पुलकित होती। सोचती, कितना शरारती है।

श्रेष्ठा सोचती है कि काश, अगर उसकी भी सन्तान होती। अपने इस विचार पर उसे खेद होता। वे भी तो उसी की सन्तान हैं, उसकी अपनी ही तो। बच्चे साथ रहते थे, तो उसे कुछ याद नही आता था। राधा का विवाह हो चुका था। रमेश दूर नौकरी करता था। श्रेष्ठा आगे कुछ नही सोच पाती थी। सिर चकराने लगता था। वही उसका बेटा था, वही और अन्दर से आवाज आती, 'मां के लिए तो सब बच्चे एक जैसे होते हैं, लेकिन मैं उसके लिए कुछ भी न कर पाई। ओह ! कुछ भी तो न हो सका। काश ! उस दिन मैं ही न होती।'

कुलबुलाते आठ वर्षीय कमलेश का धूमिल-सा चित्र खिंच आया उसकी आंखों के सामने।

'हाय ! हाय !' सीढ़ियों में से आवाज आ रही थी। श्रेष्ठा कांप गई थी। नीचे गई तो देखा, कमलेश सीढ़ी पर टेढ़ा पड़ा हुआ था। उसे उलटियां आ रही थीं।

'अरे कमलेश, क्या हुआ ?' उसकी आवाज सहमी हुई थी।

'हूं।' कमलेश की आवाज धंसती जा रही थी।

श्रेष्ठा उसे उठाकर ऊपर ले गई थी। उसे आराम से लिटाया था तथा

स्वयं जल्दी-जल्दी पानी आदि गर्म करने मे लग गई थी ।

कमलेश ने अपने पेट को दोनों हाथों से पकड़ रखा था । वह कभी सीधा हो जाता तो कभी दोहरा हो जाता । श्रेष्ठा कुछ भी सोच नही पा रही थी ।

उसके मन में आया कि जोर से चिल्लाए, परन्तु सुनेगा कौन ? रमेश तथा राधा को पीटने का मन हुआ, परन्तु ज्यों ही नजर कमलेश पर गई, वह एकदम शांत हो गई थी ।

काश, उसके सास-ससुर होते, श्रेष्ठा ने सोचा था । श्रेष्ठा के पति घर आए तो उसकी जान में जान आई थी ।

'जरा जल्दी से एक कप चाय तैयार करना । दफ्तर में आज बड़ा काम था । बहुत थक गया हू ।' पति ने सोफे पर बैठते हुए कहा था ।

श्रेष्ठा अपने पति की ओर देखकर उनकी बात सुनी-अनसुनी करके बोली, 'कमलेश बीमार है ।'

'अच्छा !' वह आश्चर्यचकित हो गए थे ।

अपने पति का उत्तर सुनकर उसे हैरानी हुई थी ।

'काफी बीमार लगता है ।' वह पुनः बोली ।

'बच्चा बीमार है या मां का दिल ?'

'कुछ भी समझो ।'

'ठीक हो जाएगा ।'

'कैसे ?' श्रेष्ठा ने कहा था ।

'ऐसे ही सर्दी लग जाती है बच्चों को । जरा ब्रांडी पिला दो ।'

श्रेष्ठा चुप हो गई थी ।

चाय पीकर पति चलने लगे तो डरते-डरते श्रेष्ठा ने कहा था, 'डाक्टर को बुला लीजिए । कमलेश की तबियत अधिक खराब है ।'

'अच्छा ।' ठण्डा-सा उत्तर ।

इस बार भी श्रेष्ठा को यह शब्द अच्छा नही लगा था, मानो किसी विवशता में बोला गया हो । जैसे यह शब्द मात्र लादा गया हो ।

वह प्रतीक्षा करती रही ।

कमलेश की दशा खराब होती चली जा रही थी । उसका दर्द बढ़ रहा

था और जो कुछ भी वह उसके मुंह में डालती, फौरन बाहर आ जाता। वह बेचैनी से इधर-उधर दौड़ रही थी। क्या करे वह ? रात के ग्यारह बज गए, उसके पति नही लौटे।

वह कमलेश को छोड़कर घर से निकली। कुछ एक घर छोड़कर उसके देवर का घर था। बैठक में चार-पांच व्यक्ति बैठे ताश खेल रहे थे। उसने बिना हिचकिचाहट के दरवाजे पर दस्तक दी।

'कौन ?' उसके पति की आवाज थी।

'श्रेष्ठा।' धीमा, घबराया-सा स्वर श्रेष्ठा का था।

'कंवरलाल ! मैं घर चलता हूं। आप लोग भी वहां आ जाइए।'

'कमलेश तो ठीक है ?' पति के मुख से निकला, यद्यपि पत्नी के मौन एवं मुखाकृति से वह सब समझ गया था।

'हूं।' उदासीन-सा उत्तर मिला था।

रास्ते मे वकील साहब मिल गए। कई दिनों से उनके साथ ताश नही खेले थे। वह जबरदस्ती उन्हें अपने साथ अपने घर ले गए और एक बार कमलेश को देखकर बराबर के कमरे में ताश खेलने बैठ गए।

श्रेष्ठा चुप थी, कुपित और भयभीत भी।

'भूल हो गयी श्रेष्ठा ! मुझे डाक्टर को बुलाकर लाना था।' सफाई देते हुए पति ने कहा, परन्तु ताश खेलना बंद न किया और न ही उन्होंने डाक्टर को बुलाकर लाने की आवश्यकता समझी।

श्रेष्ठा पास वाले कमरे में कमलेश को अपनी गोद में लिटाए बैठी थी। 'हूं-हूं-हूं' कमलेश की आंखें चढ़ती जा रही थी। श्रेष्ठा ने सोचा, शायद उसे आराम आ रहा है, लेकिन वह पथरा गई। उसने महसूस किया कि कमलेश जड़, चेतनाहीन पड़ा था। साथ वाले कमरे से ताश के पत्तों की आवाज आ रही थी।

अंगीठी के कोयले नीचे हो गए थे। उसने कुछ और कोयले डाले। पड़ोसिन अपने बच्चों को कहानियां सुना रही थी।

श्रेष्ठा को मन ही मन कुछ काट रहा था। दूसरा विवाह क्या मात्र बच्चों के लिए आया उपलब्ध करवाने मात्र के लिए किया गया था ? विवाह पहला भी हो तो भी नारी को नर्स का ही पार्ट अदा करना पड़ता है,

परन्तु सभी के लिए ऐसी बात समान रूप से नही कही जा सकती—वह सोचती, उसकी कई सहेलियां वैवाहिक जीवन में कहीं अधिक सुखी हैं।

श्रेष्ठा कभी अपने संबंध में गृहस्थी का विश्लेषण करती तो विचित्र-सा अनुभव होता। कुछ मरा-मरा-सा वातावरण। मानो घर के सभी व्यक्ति मोहरे थे, जिनका स्वतंत्र अस्तित्व कुछ भी नही था।

आखिरी बस भी आ चुकी है। तभी दरवाजे पर आहट हुई।

—शायद वही हों। श्रेष्ठा ने सोचा।

लेकिन नहीं। यह तो गिरधारी है, दफ्तर का गार्ड।

'अभी बैजनाथ से साहब का टेलीफोन आया है। उन्होंने कहा है कि वह आज नही आएंगे। शायद रिवालसर चले गए हैं।' गिरधारी ने बताया।

श्रेष्ठा कुछ समझ नही पाई। उनके किसी मित्र की जीप-दुर्घटना में मृत्यु हो गयी थी। शोक के लिए गए थे वहां। अब वहां से रिवालसर जाने का कार्यक्रम बना लिया। समय-कुसमय तो देखना चाहिए, परन्तु समझाये कौन? जहां देखो, अपनी मन-मर्जी करते हैं। यहां मैं अकेली हू। घर खाने को दौड़ता है। उन्हें क्या चिन्ता। जो करना है, करेंगे ही।

यह सोचते-सोचते उसके सामने कमलेश की आकृति उभरने लगी, जो जोर-जोर से चिल्लाता मालूम होता था—मां, मेरे पिता ही ने मुझे मर जाने दिया। कोई ध्यान नही दिया। वह किसी चीज पर ध्यान नही देते।

श्रेष्ठा की चीख निकल गई। वह भगवान् का स्मरण करती कमरे में चली गई। न चाहने पर भी उसकी दृष्टि के सामने कमलेश के साथ ताश के पत्ते उभरने लगते है, जो कमलेश की आकृति को पूर्णतः ढक लेते है।

थका हुआ इंसान

वह मेरी मुट्ठी में बंद था। अपने कमरे में पहुंचकर मैंने धीरे से मुट्ठी खोल दी। वह एकाएक बढ़ने लगा। मैं आश्चर्य से उसे देख रहा था। यह तो वह नहीं निकला जो मैंने समझा था। पीछा छुड़ाने की इच्छा से मैंने अनुनय-विनय के स्वर मे उससे कहा, 'आप तो विशिष्ट जन दिखाई पड़ते है। मुझे तो सामान्य जन की तलाश थी, इसीलिए राहचलते लोगों के समूह में से एक मुट्ठी भर ली थी, जिसमे तुम आ गए।' उसे चुप देखकर मैंने पुनः कहा,'मैं क्षमाप्रार्थी हूं।'

'तुम झूठ बोलते हो।' उसके माथे की नसें तन गई थीं। मैंने उसे विश्वास दिलाया कि मुझे सचमुच सामान्य जन की तलाश थी। मैं उसी की कहानी लिखना चाहता हूं।

वह तिरस्कारपूर्ण ढंग से मुस्कराकर बोला, 'तुम सामान्य जन की कहानियां कब से लिखने लगे हो? मैं सामान्य जन हूं, तुम तो इतना भी नही पहचानते। कहानी क्या लिखोगे तुम?'

'लेकिन तुम तो मुट्ठी में से छूटते ही इतना उभरने लगे।' मैंने कहा।

'मैं तो उतना ही था। तुम्हारी कल्पना को पंख लग गए थे।' कह कर वह शांत हो गया। उसने पुनः मेरी आंखों में झांका। शायद वह कुछ कहना चाहता था। मैंने ही उसे प्रोत्साहित किया, 'हां-हां, कहिए। मैं आप पर कहानी लिखूगा।'

वह कुछ आश्वस्त हो गया और फिर संकोच से बोला, 'मैंने अपनी कहानी स्वयं भी लिखी है, क्योंकि मेरे अनुभवों को दूसरा व्यक्ति समुचित रूप से भला कैसा लिख सकता है? आप मेरी कहानी पढ़ेंगे'''अपनी राय

देंगे।' यह कहकर उसने कई कागज मुझे पकड़ा दिए। मैं जिज्ञासावश उन्हें पढने लगा।

'मेरा विवाह अगस्त, उन्नीस सौ चवालीस मे हुआ था। तब मेरी आयु लगभग बीस वर्ष की थी। कई रथो की बारात थी। समस्त गांव मे जोश उफन आया था। दादा को अपने महाजन होने का बडा गर्व था। गाव के गांव उन्होंने कुर्की मे वसूल कर लिए थे। फिर चार-पांच सौ बीघे जमीन रहन की थी। गांव-भर में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो दादा की बेगार प्रसन्न होकर न कर जाता हो। मेरे पिता ने किसी-न-किसी तरह बारह जमायतें पास कर ली थी। उनके छ भाई थे, जो छठे सातवे दर्जे से आगे नही बढे थे। अतः मेरे पिताजी का गाव मे बड़ा सम्मान तथा दबदबा था। पढने-लिखने का छोटे-से-छोटा एवं बड़े-से-बड़ा काम लोग उन्ही से करवाते थे। मुझे स्मरण है कि जब मेरी बारात मेरी ससुराल के गांव मे पहुंची तो लोग जगह-जगह यही चर्चा कर रहे थे कि लड़का मैट्रिक पास है। लडके का बाप तो बहुत ही पढ़ा-लिखा है। इतना पढ़ा-लिखा होते हुए भी उसमें जरा दर्प नही है। गांव मे अपना सिक्का जमाने के लिए दादा ने एक-एक रुपये के नोट गांव के गरीबो मे बांट दिए थे।

मेरी सबसे बड़ी लड़की का जन्म सन् छियालीस में हुआ। दसवी तक तो वह स्कूल में पढ़ी, उसके बाद स्वाध्याय से ही एम० ए० पास कर गई। जब उसका जन्म हुआ था, तो दादा-दादी, पिताजी तथा माताजी सभी बडे प्रसन्न थे। उन्होंने कन्या-रत्न की उत्पत्ति पर लाख-लाख शकुन मनाए थे, परंतु संध्या के एम० ए० पास कर लेने तक उन चारो मे से कोई जीवित नहीं रहा। वे जीवित होते तो उन्हे कितनी प्रसन्नता होती, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती है। मैं कही कुछ भूल न जाऊं, इसलिए इस बात का उल्लेख भी यहां कर द् कि संध्या आजकल क्या करती है तथा कहां है। एम० ए० पास कर लेने के दो-तीन वर्ष पश्चात् तक तो उसे हमने नौकरी नहीं करने दी, क्योकि दूर शहरों मे अकेली नौजवान कन्या का रहना उचित नहीं होता, परन्तु जब मैं स्थानांतरित होकर हिमाचल प्रदेश में चला आया, तो संध्या के लिए पहले तो इसी प्रदेश में नौकरी ढूढ़ने का प्रयत्न किया, जो कुछ बना नहीं। सभी कहते —अभी दो-चार वर्ष हिमाचल

में रहो तो सही, फिर नौकरी ढूंढना। यहां तो यहां के लोगों को ही नौकरी नहीं मिलती। मैं जानता था कि ये सब टालने के बहाने हैं, परन्तु कर भी क्या सकता था! फिर मैंने पंजाब में स्थापित एक मित्र को अपनी समस्या बताई, तो उन्होंने मेरी सहायता करने का वचन ही नहीं दिया अपितु एक वर्ष के अंदर-अंदर ही अमृतसर के एक कालेज में संध्या को नौकरी पर लगवा दिया। संध्या वहीं मेरे मित्र के घर रहने लगी। मैं संतुष्ट था अब। संध्या की मां भी आमदनी बढ़ जाने से सन्तुष्ट थी।

संध्या की नौकरी की बात चली है, तो अब पूरी ही क्यों न लिख दूं। अभी उसे नौकरी करते कुछ ही मास हुए थे कि मेरे मित्र का पत्र आया, जिसमें लिखा था, 'मैं संध्या के व्यवहार से प्रसन्न नहीं हूं। आधी-आधी रात गए तक इसके पास युवक बैठे रहते हैं। मैं इसे सहन नहीं कर सकता। तुम्हारी बेटी आखिर मेरी भी तो बेटी है। एक दिन आकर स्वयं देख जाओ। कुछ हो गया तो मुझे उपालभ न देना।'

ऐसा पत्र पाकर कोई भी बाप तिलमिला उठता। मुझे उस रात नींद नहीं आई। प्रातः ही मैं अमृतसर के लिए चल दिया। लगभग चार बजे अमृतसर पहुंचा। अनेक प्रकार की बातें मन में आ-जा रही थीं। लड़कियों को नौकरी करवाना ठीक नहीं है और फिर घर से इतनी दूर, बिल्कुल अकेले में। समाज की उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है।

संध्या तो वैसे बड़ी समझदार है। वह अपने मां-बाप की इज्जत को मिट्टी में कैसे मिला सकती है? सोचते-सोचते मैं घर पहुंच गया। घर के बाहर ही मैंने कुछ सुनने का प्रयत्न किया, परन्तु नहीं, अन्दर से कोई आवाज नहीं आ रही थी। मैंने दरवाजा खटखटाया। संध्या ने दरवाजा खोला, 'पिताजी, आप!' कहकर वह झुक गई। मैंने आशीर्वाद दिया। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद मैंने पूछा, क्या कपूर साहब यहां नहीं है?'

'वह आज ही अपने परिवार के साथ दिल्ली गए हैं।' संध्या ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

मैं सोच रहा था कि संध्या से उसके मित्रों के विषय में पूछूं, परंतु ऐसा पूछने का साहस नहीं जुटा पाया। पुराने संस्कार कह रहे थे कि पिता और बेटी में लाज-लज्जा का विचार तो होना ही चाहिए। फिर यह सोच-

कर चुप रहा कि यदि कोई मित्र आते ही होंगे तो सायं पता चल जाएगा। उतावलेपन की क्या बात है।

सायंकाल किसी ने दरवाजा खटखटाया। मेरा दिल धड़कने लगा। संध्या ने दरवाजा खोला। संध्या की सहेली खड़ी थी। संध्या ने उससे मेरा परिचय करवाया। थोड़ी देर में ही हम घुल-मिलकर बातें कर रहे थे। उसी ने बताया कि संध्या के कहने पर आज वही सोने आई है। मैं उसकी प्रशंसा किए बिना न रह सका।

लगभग आठ बजे संध्या खाना बनाने रसोई में चली गई। उसकी सहेली मीनाक्षी मेरे पास बैठी रही। शायद वह मुझे बोर नही होने देना चाहती थी। मैंने उससे पूछा, 'तुम्हारे मम्मी-डैडी कहां रहते हैं?' 'यहीं अमृतसर में ही।' उसका संक्षिप्त-सा उत्तर था। 'फिर तो बड़ी अच्छी बात है।' मैंने कहा। वह चुप हो गई। शायद कुछ सोच रही थी। शायद कुछ कहना चाहती थी। मैं भी यों ही इधर-उधर ताकता रहा। अनायास उसी ने मौन भंग करते हुए कहा, 'अकल, आप संध्या की शादी क्यों नहीं कर देते?'

मीनाक्षी से ऐसी बात सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। अवश्य ही संध्या ने कोई गड़बड़ की है। तभी तो कपूर ने ऐसा लिखा था। यह लड़की हमें कहीं का नहीं छोड़ेगी। मैं घुटता हुआ बोला, 'बेटी, कोई लड़का हो तो बताओ।'

'लड़के एक नहीं, बीस मिल जाते हैं। संध्या कॉलेज में लेक्चरर है। फिर देखने में भी सुन्दर है।' उसने कहा।

मैं सोचने लगा, संध्या लगभग सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की हो गई है। शायद इसीलिए मीनाक्षी ने कहा है। मीनाक्षी तो अभी तेईस-चौबीस की ही लगती है। 'मैं सोचता हूं, बस, साल-छः महीने में इसके हाथ पीले कर दूंगा।'

'साल-छः महीने में! उतनी देर फिर इसे यहां से ले जाओ या फिर कोई और इलाज करो।' मीनाक्षी ने कहा।

'मीनाक्षी! सीधी बात बताओ। पहेलियां मत बुझाओ।' मैंने कातर स्वर में कहा। मुझे अब निश्चय ही कोई गड़बड़ नजर आने लगी।

'अंकल, कपूर का बच्चा हरामी है। उसकी उमर भले ही पचास से

ऊपर हो गई है, परंतु अभी तक उसे अक्ल नहीं आई। आप कहेंगे, बड़ी निर्लज्ज है, परंतु आपने पूछा है तो बता दू। एक दिन उसने संध्या के कमरे में आकर कहा, तुम्हें कोई कठिनाई तो नहीं ? साथ ही बुजुर्गों का सा अभिनय करते हुए उसकी पीठ पर हाथ फिराना शुरू कर दिया। संध्या ने सोचा, शायद यों ही हाथ टिक गया है, परंतु नहीं। संध्या ने तड़ातड़ कपूर के मुंह पर थप्पड़ जड़ दिए। आज उसने संध्या के कपड़े की प्रशंसा करने के बहाने चिकुटी काट दी थी। संध्या ही है जो यह काट रही है, अन्यथा···।'

'क्या तुम्हारे घर में कोई कमरा खाली नही है ? तुम तो कह रही थीं···तुम्हारा बहुत बड़ा घर है।' मैं भौचक्का-सा बोला।

'है तो सही। मैंने तो संध्या से यही कहा था। बस, एक बात का थोड़ा-सा भय था मन में। मेरा भी एक भाई आवारा लड़कों की भांति घूमता है। कही वह···।'

'तुम वहां होगी तो वह कुछ नही कह सकेगा । उसे समझा देना।' इस प्रकार मैंने संध्या का प्रबंध कपूर से हटाकर मीनाक्षी के घर करवा दिया। अभी कुछ दिन पहले ही मैं वहां था। उसके बाद एक पत्र आया है संध्या का, जिसमें उसने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की। मैंने सोचा, उसका विवाह जल्दी कर ही देना चाहिए। अब और विलंब करना व्यर्थ होगा, घातक होगा। कभी मीनाक्षी के भाई का ध्यान आ जाता तो सारी-सारी रात मुझे नींद नही आती। संध्या की नौकरी छुड़वाने को भी मन नहीं होता, क्योंकि विवाह के खर्च के लिए बहुत पैसा चाहिए। वैसे भी लालच था।

संध्या के बाद सन् सैंतालीस के अंत में सुलक्ष्मी का जन्म हुआ था। तब तक भारत आजाद हो चुका था। रहन जमीन अधिकतर छूट गई थी। बहुत-सा धन, जो मुसलमानों ने उधार ले रखा था, पाकिस्तान बन जाने के कारण मारा गया। लोग-बाग ही दूसरे देश में जा बसे तो उधार किस से वसूल करते ? फिर भी दादा ने सुलक्ष्मी के जन्म पर काफी बड़ा उत्सव मनाया। वैसे वह स्वयं बड़े चुपचाप रहने लगे थे। उन्हें अपने शानदार भवनों की दीवारें खोखली होती दिखाई देने लगी थी। कभी-कभार वह अपने बेकार लड़कों से कहते, 'अब तुम्हें कुछ-न-कुछ व्यवसाय शुरू कर देना चाहिए। धन यों ही पड़ा नहीं रहता। काम न करो, बैठे-बैठे खाते

रहो तो कुएं भी खाली हो जाते है, परन्तु किसी पर कोई प्रभाव नही हुआ । मेरे पिता भाइयों में सबसे बड़े थे । वह अवश्य चिंतित रहने लगे थे । उन्होंने कारोबार की ओर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया था ।

सुलक्ष्मी ने बी० ए० कर लिया है अब । वह अपनी मां के पास ही रहती है गत बीस-बाईस वर्ष से । मेरे पास तभी आती है, जब उसकी मां आए । वैसे भी दिल्ली से निकलने का मन किसका होता है । यहां छोटे से शहर में कोई फैशन नही, कोई विशेष कंपनी नही । उन्हें चाहिए चहल-पहल । संध्या और सुलक्ष्मी के स्वभाव में जमीन-आसमान का अतर था । संध्या जहां सोबर स्वभाव की लडकी है, वहां सुलक्ष्मी चंचल स्वभाव की । वह कभी चुप ही नही रह सकती । प्रायः लड़के राहचलती लड़कियों को छेडते हैं, परंतु यहां बात उलटी थी । सुलक्ष्मी निस्संकोच किसी भी राहचलते लड़के को छेडने का साहस रखती है तथा बुद्धि-कौशल से बाद में झगड़े से बच भी निकलती है । इसकी मां ने बताया था कि एक बार सुलक्ष्मी ने ऐसे लडकों को छेड दिया जो कुछ ढीठ प्रकार के थे । वे सब उसके पीछे-पीछे घर चले आए । उन्होंने कहा कि वे सुलक्ष्मी के सहपाठी हैं और वे कमरे में बैठ गए । खूब डटकर चायपान करके वे मुस्कराते हुए चले गए । बाद में सुलक्ष्मी ने बताया कि वे उसके सहपाठी नहीं थे । न ही वह उन्हें पहले से जानती थी । वे उसके घर पहुंचकर हंगामा करना चाहते थे । सुलक्ष्मी ने उन्हें समझा दिया था कि यदि वे उसके सहपाठी होने का अभिनय करें तो वह उन्हें आराम से अपने घर में बिठाकर चाय पिला सकती है । उसने किया भी वैसा ही । पता चलने पर उसकी मां ने उसे डांटा था, परन्तु डांटने का उस पर कोई प्रभाव नही हुआ । आजकल वह अपने ही प्रयत्न से एक दफ्तर में रिसेप्शनिस्ट लगी है । मुझे रिसेप्शनिस्ट की नौकरी अच्छी नहीं लगती, परंतु उसकी मम्मी कहती है, नौकरी कोई अच्छी या बुरी नही होती । मेरे लिए सचमुच सुलक्ष्मी एक प्रॉब्लम गर्ल है । पता नही कब क्या कर बैठे । इस शहर और दिल्ली की दूरी, सोचता हूं, फैलती ही चली जाती है·· फैलती ही जाती है ।

सन् अड़तालीस ही रहा होगा, ज्यादा से ज्यादा सन् उनचास, उस साल दादाजी की मृत्यु हो गई थी । बड़ी अच्छी महात्माओं जैसी मौत पाई ।

खाना खाने बैठे। परमात्मा का स्मरण किया। बस, वही रह गए। उनकी मृत्यु के दूसरे दिन ही सुकन्या का जन्म हुआ था। घर में वैसे ही मातम छा गया था। कन्या के पदार्पण से मातम सघन हो गया। अजीब बहू है जिसकी कोख से लड़कियां ही लड़कियां निकलती चली आती हैं। इसकी वंशावली विवाह से पहले ही देखनी चाहिए थी। इसके बाप के भी पांच लड़कियां ही हुई थीं। मेरी पत्नी चुप थी। बीच बीच में घुटती भी जा रही थी। कुछ दिन बाद उसने कहा था, 'मैं आगे पढ़ना चाहती हूं।' मैं हैरान रह गया यह सुनकर। मैं स्वयं दसवी पास था। मैं भला उसे आगे पढ़ने के लिए कैसे कह सकता था। मैंने अस्वीकार कर दिया, परंतु स्वयं इतना अवश्य अनुभव करने लगा कि अब मुझे नौकरी कर लेनी चाहिए, अन्यथा गृहस्थी का भार ढोना कठिन हो जाएगा।

उन दिनों नौकरी पाना इतना कठिन नही था। मैंने भारत के स्तर की केंद्रीय सेवा के लिए कंपीटीशन परीक्षा दी और उत्तीर्ण होने पर नियुक्ति हो गई। मैं बहुत प्रसन्न था। एक आत्मविश्वास जग गया था मुझमें कि अब मैं कमाई करूंगा, परंतु संयोगवश मेरी प्रथम नियुक्ति गोहाटी की हो गई। मेरी पत्नी को यह अच्छा नहीं लगा। मैं जाने के लिए लालायित था ही। मैंने कहा, 'बहुत जल्दी सबको अपने साथ ले जाऊंगा। वैसे भी बच्चे अभी छोटे हैं, वहां संभालेगा कौन?' पत्नी को समझा-बुझाकर मैं गोहाटी चला गया था।

लगभग एक वर्ष तक मैं घर नही आया। गोहाटी से रोपड़ आना तब इतना आसान नही था। इतनी सुविधाए भी नही थी, जितनी आज है। एक वर्ष में ढेर से पत्र आए मेरी पत्नी के। मैंने भी उसे बहुत लबे-लंबे पत्र लिखे। पहली बार पता चला कि गृहस्थ जीवन का सुख क्या होता है। फिर एक दिन पत्नी का पत्र आया, जिसमें लिखा था, 'जानकर प्रसन्नता होगी कि मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली है।' मुझे सचमुच बड़ी प्रसन्नता हुई थी। वह पत्र पढ़कर अपने साथियों से भी मैंने यह बात कही थी। फिर एक पत्र आया था, दादी नहीं रही। लिखा था, 'तुम्हारी बाट जोहती रहीं अंत तक, परंतु तुम नही आए। अब जल्दी चले आओ।' मैं आ गया था। घर में मातम छाया था, परन्तु रात्रि में

मेरी पत्नी मुझसे गर्मजोशी से मिली। वह सारी रात मुझसे बातें करती रही। सोयी भी मेरे साथ, यह मुझे आज भी याद है।

सुकन्या तीन वर्ष की हो गई थी। पत्नी की इच्छा जे० बी० टी० करने की थी। मैं व्यवधान क्योंकर बनता? मैं तो पहले ही घर से काफी दूर था। एक वर्ष निकल गया। मेरी पत्नी ट्रेनिंग लेकर बड़ी प्रसन्न थी। उसने नौकरी के लिए इधर-उधर प्रार्थना-पत्र देने आरम्भ किए। जल्दी ही नौकरी मिल गई। नौकरी दिल्ली में मिली, क्योंकि मेरी पत्नी ने प्रयत्न ही दिल्ली के लिए किया था। वहां पहले से उसकी एक बहन थी। यह सन् तरेपन-चव्वन की बात होगी। अब बच्चों को अच्छी शिक्षा मिलने की बड़ी संभावना थी। इसीलिए मैं भी संतुष्ट था।

मेरा प्रयत्न था कि मैं भी दिल्ली में स्थानांतरण करवा लू तथा आनद से अपने परिवार के साथ रहूं। इस उद्देश्य के लिए मैंने प्रार्थना-पत्र दिया। कोई सुनवाई नही हुई। किसी ने समझाया, कुछ दे-दिलाकर काम हो सकता है। दे-दिलाकर काम हो जाएगा तो भी कोई बुराई नही। मै अपने परिवार के साथ रहने का सुख लेना चाहता था, परंतु समस्या थी कि संबद्ध अधिकारी को पैसे दिए कैसे जाएं और फिर साक्षी कौन होगा? अनेक प्रश्न थे मेरे मस्तिष्क में। मैंने स्वयं कभी किसी को रिश्वत दी नहीं थी। किस्से बहुत सुन रखे थे। मित्र प्राय: कहते थे कि कागज को नोट लगा दो तो जिस दिशा में चाहोगे, उसी दिशा में दौड़ने लगेगा। बिना पहियों के भी भला कभी कोई गाड़ी दौड़ती है! मुझे यह सब बात कपोल-कल्पित-सी लगती थी, परंतु आज अनुभव से जान गया हूं कि ये बातें सच ही होंगी। मैंने अपने एक मित्र से अपनी समस्या बतलाई। वह मेरी मूर्खता पर हंस दिया। उसने कहा, 'भाई, पैसा देना बड़ा ही सहज काम है। चलो, मैं तुम्हारा काम करवा देता हूं।' मित्र की बात सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई थी। एक आशा बंध गई थी।

अगली सायं निश्चित समय पर मैं दिल्ली के होटल में पहुंच गया था। मुझे सब बड़ा अजीब लग रहा था। मैं कभी पहले इतने बड़े होटल में नहीं गया था। एक बार तो मैं बड़ी दुविधा में ही फंस गया। मेरे मित्र ने मुझे होटल में भोजन पर आमंत्रित किया था। वह बड़े आराम से कांटे-छुरी

के साथ भोजन कर रहा था, परंतु मुझे कांटे-छुरी का ज्ञान नहीं था। मैंने उसे खाते देखकर वैसा ही करने का प्रयत्न किया तो चावल मुंह में कम पड़ते, नीचे अधिक गिरते थे। मेरा मित्र कनखियों से मुस्करा दिया था। फिर मैंने सारे संकोच को झटक दिया था तथा बड़े विश्वास के साथ हाथ से चावल खाने लगा था। अब मेरा मित्र झेंप रहा था। कहीं आज भी वैसी ही स्थिति का सामना न करना पड़े।

वे आ गए थे। मुझे अधिक देर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। चेहरे से बहुत ही सज्जन आदमी दिखाई पड़ते थे। लगता था, काम हो जाएगा। मेरे मित्र हीरालाल कौड़े ने उनसे मेरा परिचय करवाया—'इनसे मिलिए··· ये हैं श्री सरनदास सरीन। बहुत बड़े सेठ के पुत्र। इनके बहुत-से कारखाने हैं और···।'

'अरे भई, क्या कहने लगे। यों ही मुझे इतना बड़ा बना दिया। धनी होता तो मैं नौकरी क्यों करता?' मैंने संकोच से कहा था।

'कई बार काले धन को छिपाने के लिए नौकरी भी करनी पड़ती है।' मेरे मित्र ने कहा था।

'हां भाई, ऐसा प्रायः होता है।' अधिकारी महोदय ने कहा। उनका नाम था, यदि मुझे ठीक से याद है, रामलोक न्योनेपाल।

हम तीनों अंदर जा बैठे थे। रंग-बिरंगी बत्तियों से कृत्रिम वातावरण लग रहा था। मैंने उनसे पूछा, 'आप क्या-क्या खाना पसंद करेंगे?' मेरे मित्र ने मुझे घूरकर देखा, मानो मैंने कोई अपराध किया हो। बोला, 'कुछ दम लो, अभी आठ बजे हैं। जरा रुककर खाए-पिएंगे।' फिर उसने अधिकारी महोदय से पूछा, 'न्योनेपालजी, आप क्या लेंगे? बीयर या व्हिस्की?'

'भई, यह भी कोई पूछने की बात है! दोनों ले लेंगे।' उन्होंने उदारता से कह दिया था।

रात लगभग एक बजे मैं अपने घर की ओर बढ़ता जा रहा था। ऐसा लगा मानो दुनिया डगमगा रही हो। अच्छा लगा मुझे दुनिया का डगमगाना। होश में रहकर दुनिया में क्रांति लाने की इच्छा तो की जा सकती है, परंतु यह सब सहज नहीं। रंगदार पानी के चंद घूंटों ने ऐसा

महसूस करवा दिया कि यह भी जीने का ढंग हो सकता है, परंतु अस्थायी। घर पहुंचने पर दुनिया का थोड़ा सा रंग उड़ता दृष्टिगोचर हुआ।

अलसायी-सी पत्नी ने उठकर द्वार खोला और कहा, 'कितने नष्ट कर आए ?'

'यही कोई दो सौ रुपए।' मैंने कहा।

'आज पैसों का आता ही क्या है !' पत्नी ने नाक सिकोड़कर कहा, 'समझदारी से काम लेते तो थोड़े में भी काम चल सकता था। उसे घर पर बुला लेते। कौड़े को न बुलाते तो घर में खुलकर अच्छी तरह बात हो जाती।'

मैं अवाक्-सा अपनी पत्नी की ओर देखता रहा।

'आपने उसे अच्छी तरह समझा दिया था ना ? कहीं ऐसा न हो कि दो सौ रुपए डकारकर चुप हो जाए। इन लोगों का कुछ पता नहीं चलता।' रामेश्वरी ने मुझे समझाने के अंदाज में कहा।

जब मैंने न्योनेपाल से अपनी समस्या बतायी तो उसने कहा था, 'ह्वेन होली वाटर गोज़ इन, ट्रुथ कम्ज़ आउट।' पता नहीं उन्होंने ठहाका मेरी बेवकूफी पर लगाया था या अपनी वाक्पटुता पर। मैंने फिर विस्तार से अपनी समस्या का उद्घाटन किया था। कौड़ा तो घूंट पर घूंट पिए जा रहा था। बीच-बीच में कह उठता था, 'आज वर्षों बाद ऐसी अच्छी शराब पी है। मैं बहुत दुखी आदमी हूं, बहुत थक गया हूं, लेकिन तुम्हारे साथ बैठने पर पीने से क्षण-भर के लिए पुनः जीवित हो उठा हूं।' मि० न्योनेपाल ने मि० कौड़ा की बात बड़े ध्यान से सुनते हुए कहा था, 'आज सभी थके हुए हैं। जीवन गतिहीन हो चुका है। गति के बिना दिशा-बोध नहीं रहता। मैं स्वयं अपने-आपको थका हुआ इंसान महसूस करता हूं। पांच बच्चे हैं। चार लड़कियां हैं। एक लड़का है। बीवी है, लेकिन यार, है बड़ी नखरीली। घर में जाता हूं तो उसकी घुड़कियां सुनाई देती हैं। फिर दफ्तर में थोड़ा क्रोध इधर-उधर निकाल लेता हूं। शांत रहता हूं। एक हजार वेतन मिलता है, फिर भी कुछ नहीं बनता। जो ऊपर से बनता है, वह यों ही उजड़ जाता है। सरीन भाई, आप अच्छे हैं जो अपनी पत्नी से दूर

रहते हैं। कोई आपको रोकने-टोकने वाला तो नही है। मैं तो चाहता हूं कि मेरा स्थानांतरण कहीं दूर का हो जाए, ताकि कुछ दिन मुक्त ढंग से जी सकूं, परंतु ट्रांसफर इसलिए भी नही करवाता कि यहां घर का मकान है। कही दूसरे स्टेशन पर सरकारी क्वार्टर मिले या न मिले। मेरी पत्नी तो नौकरी भी नही करती। जहां भी जाऊंगा, मेरे साथ चिपकी रहेगी।' यह कहकर मि० न्योनेपाल ने अपने मन की भड़ास निकाली थी।

'मैं विवाहोपरांत अधिक दिन अपनी पत्नी के साथ नहीं रहा हूं। दूसरे, मैं भी थक गया हू खाना बनाते-बनाते। दिन-भर दफ्तर में, सुबह-शाम रसोई में। यह भी कोई जीवन है।' मैंने अपना दर्द बताया था।

'मैं जानता हू आप बड़े रोमांटिक व्यक्ति है। निश्चिन्त रहे, मै अपना पूरा जोर लगा दूगा। वैसे आपको चाहिए कि आप अपनी श्रीमती को नौकरी से हटवा लें। तब आपकी गृहस्थी सुखी रहेगी।' उन्होने मुझे नसीहत दी थी।

'अरे भाई, इनकी श्रीमती इनकी इच्छा से थोड़े ही नौकरी करती हैं। दूसरे, आजकल कमरतोड़ महंगाई है। नौकरी करना कोई बुरी बात नही।' यह कहकर मि० कौड़ा ने हस्तक्षेप किया था। क्षण-भर रुककर कौड़ा फिर बोला, 'मेरी पत्नी पढ़ी-लिखी नही, नही तो मैं भी उससे नौकरी करवा लेता। सर, आप उसे अपने दफ्तर मे डेलीपेड-बेसिस पर रख लें।'

हम तीनों हंस दिये थे।

मेरी पत्नी मेरे पास बैठी थी। मैंने उसका मन बहलाने के लिए कहा, 'तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो। अब मैं और अधिक देर तुमसे दूर नही रह सकता। जल्दी ही मेरा ट्रांसफर हो जाएगा।

मेरी बात सुनकर रामेश्वरी मुस्करा दी थी। बोली, 'देखो, अच्छा दिन आता है।' और उस रात हम दोनों बहुत प्रसन्न थे।

लगभग एक वर्ष इसी आशा में व्यतीत हो गया। दिल्ली के कई चक्कर लगाये, परंतु कोई-न-कोई रुकावट पड़ जाती। ट्रासफर-आर्डर पर हस्ताक्षर करने से पहले ही न्योनेपाल का दिल फेल हो गया। फिर नए सिरे से प्रस्ताव बनना था, पुनः सब दफ्तरों से होकर मेरा प्रार्थना-पत्र नए अफसर के सामने प्रस्तुत होना था। मैं बहुत निराश हो चुका था। मि० कौड़ा

ने पुनः सारा प्रयत्न किया। पता चला, नया अफसर विमेन एंड वाइन दोनों के बिना कोई काम नहीं करता। चलो वाइन आदि का प्रबंध तो मैं जैसे-तैसे कर ही देता, परंतु विमेन सप्लाई करना बड़ा कठिन था। कठिन ही नहीं, असंभव। मेरा किसी से इस प्रकार का कोई संपर्क नहीं था। मैंने सुना था कि बहुत-से लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अपनी पत्नियों को अपने अफसरों के घर जाने की स्वतंत्रता दे देते हैं। उनके काम निकल जाते हैं। उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। रामेश्वरी से ऐसा कहने का साहस मुझमें नहीं था। उसे भेजने की बात से मैं कांप गया था, ऐसी घटना के विचार मात्र से ही। मि० कौड़ा को मैंने स्पष्ट इन्कार कर दिया था। हां, एक बार उसे साथ लेकर नये अफसर के घर अवश्य हो आया था। जाता हुआ दो-तीन किलो मिठाई भी ले गया था। मुझे तो मिठाई ले जाने में भी संकोच हो रहा था, परंतु मि० कौड़ा ने कहा, 'यह सामान्य कर्टिसी की बात है। ले चलो।' उसके सामने मैंने अपनी समस्या बताई तो बोला, 'सरनदासजी, ट्रांसफर हो तो सकती है, परन्तु आदमी को चाहिए कि परिस्थितियों से समझौता कर ले। बात सर्फ एडजस्टमेंट की है। तुम्हारी पत्नी दिल्ली में है। तुम गोहाटी में। दोनों के अपने-अपने मित्र हो सकते हैं। पति या पत्नी की अपेक्षा मित्र अधिक सहायक होते हैं।'

मैं नये अफसर की बातें सुनकर अवाक् रह गया था। मैं सोच रहा था, हर आदमी की फिलासफी अलग-अलग है। यह आदमी मुझे वहां किसी संगिनी को ढूंढ़ने की सलाह दे रहा है। स्वाभाविक ही है कि मेरी पत्नी यहां किसी को अस्थायी उपपति के रूप में ढूढ़ निकाले। ऐसा होने पर तो विवाह के बन्धन ही छिटक जाएंगे। कुछ विश्वास नहीं रहेगा। कोई आस्था नही रहेगी। मेरी आंखों में झलकता अविश्वास देखकर उन्होंने कहा, 'मेरी पत्नी प्रायः रुग्ण रहती है। मेरा काम इधर-उधर से चल जाता है। ऐसा आवश्यक भी है। औरत की गंध के बिना मैं जी नही सकता। पत्नी को भी नहीं छोड़ सकता। ऐसी स्थिति में बीच का रास्ता निकालना आवश्यक होता है। इसी प्रकार जीवन कट रहा है। आप भी ऐसा ही कोई रास्ता निकालें। ट्रांसफर के लिए भी प्रयत्न करते रहें।'

उनके ज्ञान एवं दर्शन से मि० कौड़ा भी अभिभूत हो गए थे, परंतु मैं कोई निर्णय नहीं ले पा रहा था। मुझे अधिकारी महोदय की व्यक्तिगत स्थिति पर दया आ रही थी। मुझे उसकी पत्नी के प्रति सहानुभूति हो चली थी। इधर मेरी पत्नी मुझसे प्रसन्न नहीं रहती थी। उसका बार-बार कहना था, 'आप ढंग से प्रयत्न नहीं करते। दो-तीन साल यों ही निरर्थक निकाल दिए। मुझे लगता है, आपने वहां किसी स्त्री से संबंध बना लिए हैं, अन्यथा···।' और वह सुबक पड़ी थी।

जब मैंने उसे नए अधिकारी की कमजोरी बताई तो उसने कहा था, 'यह तो मामूली बात है। मैं एक रात हो आती हूं उसके पास।' यह सुनकर मैंने उसके मुंह पर एक थप्पड़ मार दिया था। मैं अपनी पत्नी की प्रतिक्रिया से व्याकुल हो उठा था। पांच लड़कियों की मां होकर भी वह ऐसा कह सकती थी। इन दो-तीन वर्षों के प्रयत्नों में मेरा ट्रांसफर तो नहीं हुआ, लेकिन दो कन्याओं का जन्म अवश्य हो गया था। चौथी कन्या का नाम सविता तथा पांचवीं का नाम कविता रख दिया था। अब मेरी पत्नी और भी चिढ़ी-चिढ़ी रहने लगी थी। लड़के की आशा में एक के बाद एक लड़कियां होती चली गयीं। इतनी महंगाई और पांच बच्चे। अभी लड़के की इच्छा बनी हुई थी। शायद इस बार लड़का हो जाए, परमात्मा का घर किसने देखा है।

ट्रांसफर न होता देख मैंने छः मास का अर्जित अवकाश लिया तथा घर बैठ गया। पत्नी बहुत प्रसन्न थी। बच्चे भी प्रसन्न थे। कुछ दिन तो घर में बड़ी चहलपहल रही, फिर धीरे-धीरे थोड़ा तनाव आने लगा। पत्नी थककर घर लौटती तो मैं उसे खुश करने का प्रयत्न करता। कहीं घुमा लाने की बात कहता, परन्तु वह कहीं गहरे तक कटी हुई लगती। एक दिन तो वह उबल ही पड़ी, 'आप तो यूंही निकम्मे पड़े रहते हैं। लड़कियां स्कूल चली जाती हैं। स्कूल जाने से पहले एवं फिर छुट्टी के तुरंत बाद आते ही मुझे घर का सारा काम करना पड़ता है। मैं कोई मशीन तो हूं नहीं।'

मैंने पूछा था, 'आखिर तुम कहना क्या चाहती हो?' उसने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा, 'बेकार भी तो बैठते हो। खाना-वाना ही···।'

'मैं तुम्हारा रसोइया बन जाऊं! तुम्हें शर्म नहीं आई यह बात कहते!

वहां तो मैं रसोइया हूं ही, यहां भी तुम यही चाहती हो···लानत है ऐसी जिंदगी पर ।'

रामेश्वरी को मेरी बातें जरा भी अच्छी नही लगी । बोली, 'तो मुझसे नौकरी क्यों करवाते हो ?'

मैं कब रुकने वाला था । मैंने कहा, 'नौकरी तुमने अपनी इच्छा से की है । मैंने कब कहा था नौकरी करने को । यह तो वही बात हुई कि उलटा चोर कोतवाल को डांटे ।' बात सच्ची थी, परतु पत्नी इस हार को कहां स्वीकारने वाली थी । बोली, 'एक की नौकरी से तो दो जून रोटी भी नही मिलती । फिर उधार सिर पर चढ़ा रहता है । तुम्हारे ही भार को हल्का करने के लिए तो मैं मरती हूं और आप हैं कि मेरा आभार तो क्या मानना, उलटे मुझे डांट रहे हैं । मैं सब समझती हूं कि आप क्यों नाराज रहते है । मेरी कोख से किसी पुत्र का जन्म नहीं हुआ न, इसीलिए । लेकिन जो बात मेरे वश की नही है, उसमें मै क्या कर सकती हूं ।' कहकर मेरी पत्नी सुबकने लगी ।

मैं घबरा गया । ऐसे तनाव में मैंने जीना नही सीखा था । मैंने अनुनय-विनय के स्वर में कहा, 'जैसा कहोगी वैसी ही कर लूगा ।' फिर भी रामेश्वरी की आंखों में अविश्वास झलक रहा था, परंतु मैंने प्रेम-भरी बातें करके उसे प्रसन्न कर दिया ।

अजित अवकाश के दिन पूरे हुए । मैं पुनः अपनी पोस्टिंग पर चला गया । वहां जाने के कुछ दिन बाद ही ट्रांसफर-आर्डर मिल गया । मुझे तुरंत श्रीनगर जाना पड़ा । प्रार्थना-पत्र तो दिया था दिल्ली के लिए, परंतु आर्डर मिला श्रीनगर का । श्रीनगर देखने की इच्छा तो थी, परंतु यह स्थान भी घर से बहुत दूर था । कुछ ही दिनों में जी भर गया । पर्वतों की छटा सुंदर तो लगी, परंतु अधिक दिनों के लिए पर्वतों पर टिकना विशेष प्रिय नही लगता । मैं मैदानों में पला एवं बड़ा हुआ था, अतः पर्वत प्रायः संकीर्ण वृत्ति के प्रतीक दृष्टिगोचर होते । दूर तक पर्वत ही पर्वत फैले हुए, कही खुलेपन का कोई आयास नहीं । संध्या होते ही सब लोग अपने-अपने घरों में बन्द हो जाते थे । वादी का सन्नाटा चारों ओर चीखने लगता । मैं सोचता, मेरे भाग्य में पहाड़ों पर रहना ही लिखा है । कभी सोचा भी नहीं था

कि पहाड़ी बन जाऊगा । अब कभी दिल्ली जाता हू तो कोलाहल से इतना भय लगता है कि पूछो नही । लगता है, हर बस, ट्रक अथवा गाड़ी मेरे ऊपर को चढ़ी आती है । चौककर पीछे हट जाता हूं तथा बचने का प्रयास करता हू । फिर पर्वत अच्छे लगने लगते है । शांत एवं एकांत वातावरण । कोई कोलाहल नही । इसी मन.स्थिति मे दो वर्ष और निकल गए । एक बार इस बीच बच्चे आकर श्रीनगर भी घूम गए । पत्नी नही आ पाई । उसे अपनी सातवी संतान को जन्म देना था । छः तो कन्या-रत्न ही हुए, देखो इस बार क्या होता है । मैं सोचता रहता कि लड़के के लिए यह कैसा पागलपन । मै स्वय अपने अंदर झांककर देखता तो मुझे कही कोई कमी महसूस होती । रामेश्वरी तो स्पष्ट ही कहती थी तथा चिढ़ी-चिढ़ी रहती थी । साथ ही साथ भजन, दान-पुण्य मे भी अधिक विश्वास रखने लगी थी । अंत मे भगवान् ने हमारी सुन ही ली । हमारे घर पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम हमने गुरुदत्त रखा, गुरु का दिया हुआ । पुत्रोत्पत्ति अम्बाला वाले प्रसिद्ध गुरुओं की कृपा से हुई थी । मेरी पत्नी कई बार वहां जाकर धूनी की भस्मी ले आई थी ।

बीस-बाईस वर्ष की अवधि में मेरी पत्नी ने सात संतानों को जन्म दिया था । लड़के की प्रतीक्षा में छः कन्याओ का जन्म था । लड़का अंत में आया सन् पैंसठ में शायद । मेरी पत्नी के चेहरे पर अब आभा लौट आई थी । संतोष था कि वंश को चलाने वाले का जन्म हो गया । लडकियों से थोड़े ही नाम चलता है । लड़कियां तो दूसरों के नाम का वरण कर लेती हैं । उन्हीं की हो जाती हैं । मैं भी अपनी पत्नी की बातो को मानने लगा था ।

पुत्र-जन्म के बाद मेरा ट्रांसफर हिमाचल प्रदेश मे हो गया । जैसा मैं आरंभ में बता चका हूं कि मैं कई वर्षो से पालमपुर में हूं, तथा कभी-कभार मेरी पत्नी एवं बच्चे सभी इकट्ठे हो जाते हैं, तो घर में चहल-पहल होती है । बच्चे कुछ दिन तो खुश रहते हैं, फिर दिल्ली वापस लौटने की सोचते हैं । बड़ा मन होता है कि वे सब सदा ही मेरे पास रहें, परंतु उन्हें जैसे कोई फुर्सत ही नहीं । उनका मेरे साथ कोई लगाव ही नहीं । पत्नी जब आती है, तो चेहरे पर एक नई आभा होती है, परंतु शीघ्र ही उसका उत्साह मंद पड़ने लगता है । इस बार सौभाग्य से परिवार के सभी

सदस्य यहां थे। मेरा मन वल्लियों उछल रहा था। मुझे पता ही नहीं चलता था कि कब समय निकल जाता था, कब दिन होता और कब रात हो जाती। एक दिन मैंने रामेश्वरी से कहा, 'मैं बहुत थक गया हूं। जिंदगी-भर रोटियां श्वनाना और अकेले रहना बड़ा कठिन लगता है। हम दोनों कभी इकट्ठे नही रहे। क्या ही अच्छा हो, यदि तुम दो साल की छुट्टी लेकर मेरे साथ रहो।'

'मैं भला यहां पड़ी रहकर क्या करूंगी ? यों ही दो वर्षो का वेतन बेकार में मारा जाएगा। दूसरे, वहां बच्चों का ध्यान कौन रखेगा ? लड़कियां जवान हैं। कही कुछ हो जाए तो ?' रामेश्वरी ने अपनी राय एवं कर्तव्य जता दिया।

मैं चुप हो रहा। सुलक्ष्मी पास ही बैठी थी। बोली, 'मम्मी ! आप गुरुदत्त को लेकर यहां रह लें। पीछे मैं घर में सबकी देखरेख कर लूगी। दुनिया में डर-डरकर थोड़े जिया जाता है। लड़कियां हैं तो क्या हुआ ?' सुकन्या ने भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहा था। छोटी लड़कियां कुछ नही बोली थी। शायद उन्हें इस सबमें कोई विशेष रुचि नही थी। हम दोनों को मौन देखकर सुलक्ष्मी ने फिर कहा, 'मम्मी, पति के प्रति भी तो कुछ कर्तव्य होता है पत्नी का। देखती नही हैं, डैडी कितने दुबले हो गये हैं। अभी पचास के आसपास होगे कि बाल सफेद हो गये। आप यही रहे, वहां की चिंता न करें।'

सुलक्ष्मी के सुझाव के विषय में मेरी पत्नी ने तुरंत कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। उसी रात जब रामेश्वरी ने मुझे बताया कि सुलक्ष्मी एवं सुकन्या पर विश्वास नहीं किया जा सकता, तो मैं चौंक गया था। मैंने अपने-आपको असहाय अनुभव किया था। पत्नी ने मेरी मनःस्थिति को भांपते हुए कहा, 'सुकन्या का प्रेम एक अधेड़ व्यक्ति से हो गया है। कालेज से कई बार अनुपस्थित होकर वह उस व्यक्ति के साथ होटलों मे अथवा उसके घर पड़ी रहती है।' मैं यह सब सुनकर चौंक उठा था। मैंने कहा, 'सुकन्या ऐसा नहीं कर सकती। तुम्हें यो ही संदेह होने लगा है।' मेरी पत्नी ने कहा, 'संदेह का प्रमाण है। वह आदमी एक दिन हमारे घर भी आ गया था। घर में एक दिन सुकन्या एवं गुरुदत्त ही थे। मैं अचानक घर

लौट आई थी और जिस स्थिति में मैंने उन दोनों को देखा था, उससे कोई संदेह नहीं रह गया था। उस व्यक्ति ने कहा, माताजी, मैं आपकी लड़की से विवाह करवाऊंगा। सुकन्या भी तैयार है। मैं धोखा देने वालों में से नहीं हूं। सच मानिए ! सच तो जो था, सो था। पकड़े जाने पर हर व्यक्ति ऐसा ही कहता है। मैं कुछ नहीं बोली थी। वह व्यक्ति वहां से चुपचाप चला गया था। ऐसी स्थिति में आप ही बताएं, सुकन्या को वहां कैसे छोड़ा जा सकता है ?'

'तुमने मुझे तो कभी ऐसा लिखा नहीं।' मैंने मरी-सी आवाज में पूछा।

'सोचा, तुम इतनी दूर अकेले पड़े हुए हो, तुम्हें क्या डिस्टर्ब करूं। व्यर्थ चिंता लगेगी तुम्हें। यदि लिख भी देती तो आप क्या कर सकते थे ?'

'मैं कुछ नहीं कर सकता, कुछ नहीं कर सकता। रामेश्वरी, तुम सच ही कहती हो, मैं बेकार आदमी हूं। व्यर्थ जीवन ढो रहा हूं।' मैं सुबक पड़ा था। इस बार चुप करवाने की बारी रामेश्वरी की थी। मेरी सांसों से सांसें मिलाते हुए उसने कहा, 'प्रिये ! गलत मत समझो। मैं स्वय तुम्हें सबकुछ बता देना चाहती थी, परंतु कोई एक बात हो तो बताऊं ! और फिर अब तो ये सब बातें सामान्य जीवन का अंग बन गई हैं। तुम नहीं जानते, लड़कियां क्या-क्या गुल खिलाती हैं। इससे तो ये पैदा ही न होतीं तो अच्छा था।' कहकर रामेश्वरी सुबकने लगी।

मैं आश्चर्यचकित-सा अपराध-भावना से दबा जा रहा था। पत्नी एव संतान की सुरक्षा का कार्य मेरा था, परंतु मैं तो कहीं पिक्चर में आ ही नहीं रहा था। मैं आउट आफ फोकस हो गया था, अस्तित्वहीन। जुड़े होकर भी कटे हुए रहना कितनी बड़ी त्रासदी है, यह मैं ही जानता हूं। केवल मैं, जिसने इसे भोगा है, सामान्य जीवन के रूप में जिया है। मैंने रामेश्वरी से पुनः पूछा, 'सुलक्ष्मी तो ठीक है ना ?'

'सुलक्ष्मी ! सुलक्ष्मी तो कुल-कलंकिनी है। यह तो सुकन्या से भी गई-गुजरी है। मुई एक दिन थानेदार को ही घर ले आयी। ऐसी गंदी शक्ल मैंने जीवन में नहीं देखी। कहने लगा, बहनजी, सुलक्ष्मी ने बताया है कि आप अकेली रहती हैं। सोचा, आपका हाल पूछ आऊं। कोई कष्ट हो तो बताइए। कहकर वह कुर्सी पर पसर गया था। मैंने कह दिया था, सब

ठीक है। मैं अकेली नहीं हूं। घर में इतने बच्चे हैं और फिर साथ वाली गली में ही हमारे संबंधी रहते हैं। वह फिर भी कहता रहा, कोई बात नहीं। मुझे भी घर का ही समझिए। जब जी चाहे बुला लें। सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा। वह बहुत देर तक बैठा ऊटपटांग बातें करता रहा। जब चला गया तो मैंने सुलक्ष्मी से पूछा, उसे क्यों लाई थी? बोली, यही पीछे पड़ा था। कई दिनों से कह रहा था—तुम इतनी सुन्दर हो तो तुम्हारी मां तो और भी सुंदर होगी। मैं तुम्हारी मम्मी के दर्शन करना चाहता हूं। मैंने सुलक्ष्मी से पूछा, तुम्हें कैसे जानता है यह खूसट? कहने लगी, जब हमने कालेज में प्रिंसिपल के विरुद्ध स्ट्राइक की थी तो इसकी ड्यूटी उस जेल में थी, जहां हम बंद थी। रोज-रोज के मिलने से परिचित हो गया था। हमें 'बेटा' कहकर पुकारता था। लेकिन सुलक्ष्मी की बातों में दम नहीं था। इसमें अवश्य ही कोई गड़बड़ है। तुम जानते ही हो कि सुलक्ष्मी किसी की सुनती नहीं। रात-रात-भर घर से गायब रहना इसकी आम बात है। बहाना वही होता है, सहेली के घर थी। उसकी मां कह गई थी, भाई का विवाह था या फिर सिर पर एग्जाम हैं। पढ़ें ना तो क्या करें? मैं तो तंग आ गयी हूं।' मेरी पत्नी मुझे अपनी दास्तां सुना रही थी। मैं कठपुतली-सा बना बैठा सुन रहा था। कठपुतली, जो स्वयं दूसरे की डोर से बंधी रहती है।

उस दिन मुझ पर निराशा छाई रही। पत्नी के दुःख से मैं द्रवीभूत हो गया था, परंतु कुछ भी नहीं कर पा रहा था। करता भी क्या? संतान की मां की ही तो जिम्मेवारी नहीं, पिता का दायित्व भी तो है, परंतु नौकरी के बंधन में बंधे रहने के कारण दोनों छोरों की दूरी बढ़ती ही चली जा रही थी। घर के सभी सदस्य अपने-आप में व्यस्त थे। अगली ही प्रातः एक समाचार पालमपुर के वायुमंडल में फैल गया था। एक नवयुवक ने न्युगल खड्ड में छलांग लगाकर आत्महत्या कर ली। उसके मां-बाप उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कर रहे थे। उसने कोई विरोध नहीं किया। बस, प्रातः उठकर न्युगल में छलांग लगा दी। मेरा ध्यान उस दिन के लिए कुछ-कुछ अपनी समस्याओं से हट गया तथा मैं उसी युवक के बारे में सोचता रहा। उसे आत्महत्या नहीं करनी चाहिए

थी। अपने मां-बाप से कह देता कि वह शादी नही करवाएगा। शायद वे मान जाते। अजीब आदमी हैं दुनिया में। छोटी-छोटी बात पर आत्महत्या करने लगें तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी। फिर तो जीवन में कई बार मरना पड़ेगा। मैं सोचने लगा, मेरा जीवन क्या मरने के समान नही है? जीने की इच्छा भी नहीं। जीवन-भर परिवार से दूर रहा। अब बुढ़ापा आ गया है, तो क्या सुख की इच्छा? चिंताओं से घिर गया हूं। कुछ मित्र तो मुझे बुलाने ही 'चिंतारंजन' नाम से लगे हैं, अर्थात् चिंता मे ही तुष्ट रहने वाला व्यक्ति, लेकिन ऐसा करना क्या मेरे साथ अन्याय नही? क्या मैं सुखी रहना नही चाहता? मैं कब चिन्तित रहना चाहता हूं? जीवन को किसी भी समय आरंभ किया जा सकता है, जीने की इच्छा चाहिए। पचास की आयु में भी तो जीवन को वास्तविक अर्थों में जिया जा सकता है। इस विचार के आते ही मैं खिल उठता हूं।

मेरी पत्नी एवं बच्चों की छुट्टियां समाप्ति पर आ गई थी। मुझे कुछ बड़ा ही अजीब-सा लग रहा था। कई दिनों से बात मन मे थी। कल तो उन सबने चले ही जाना है, ऐसा सोचकर मैंने अपनी पत्नी से कहा, 'रामेश्वरी! मैं और अधिक देर घर से दूर नही रह सकता। भटकते-भटकते जिंदगी गुजर गई। मैं कम्पलसरी रिटायरमेंट ले लेता हूं। मैं भी वहीं रहूंगा।'

पत्नी ने मेरा गाल थपथपाते हुए कहा, 'मैं तुम्हारे दुःख को समझती हूं। जानती हूं, कही गहरे कोई टीस है, परंतु जहां जीवन के इतने वर्ष निकाल दिए, वहां कुछ वर्ष और टिके रहो। अब तो रिटायरमेंट में पांच-छः साल ही रह गए हैं। पहले रिटायरमेंट लेने से न तो ग्रेचुइटी मिलेगी, न पूरी पैंशन। इसलिए कहती हूं कि भलाई इसी में है कि आप पांच-छः साल और प्रतीक्षा करें। तब तक बच्चे भी पढ़-लिख जाएंगे। फिर हम दोनों आनंद से दिल्ली रहेंगे।'

'तुम्हारी कोई बात गलत नही होती रामेश्वरी, परंतु क्या रिटायरमेंट तक अलग-अलग रहना जरूरी है? और फिर तुम ही तो कह रही थी कि तुम्हें लड़कियों ने दुखी कर रखा है। मैं निर्लिप्त होकर कैसे रह सकता हूं? मैं भी चलूंगा तुम्हारे साथ।' मैंने बहुत समझाया अपनी पत्नी को,

परन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं। कहने लगी, 'मैं स्वयं निपट लूंगी लड़कियों से। सबको सीधा कर लूंगी। आप निश्चिन्त रहें।'

वे सब चले गए। मैं मन मसोसकर रह गया। सोचता हूं, क्या करूं, क्या न करूं। कभी संध्या का ध्यान आता है तो साथ ही मीनाक्षी का भाई सामने आ खड़ा होता है। कभी रामेश्वरी तथा थानेदार का ध्यान आता है। सुलक्ष्मी-सुकन्या सब एक से बढ़कर एक समस्या···गुरुदत्त अभी बच्चा है, वैसे भी अधिक तेज नहीं। कब बड़ा होगा···कब उसका सुख मिलेगा।···मिलेगा भी या नही, कौन जाने? कल किसने देखा है! रिटायरमेंट जल्दी हो जाए तो कुछ हो भी सकता था·· सारी उमर अकेला रहा हूं···अब इकट्ठे रहकर भी कौन से बड़े तीर मार लूंगा। जीवन है··· जी रहा हूं। बहुत थक गया हूं। और अधिक चला नहीं जाता। कहां पहुंचूंगा···क्या अन्त होगा···कुछ समझ में नहीं आता। क्या पता कोई नाटकीय अंत हो जाए···जो हो सो हो···मैं क्यों सोचूं? इसके आगे की मेरी कहानी क्या होगी, भविष्य ही जाने।'

कहानी को पढ़ लेने के बाद मैं आश्चर्य एवं दया से उस सामान्य आदमी को देखता हूं। उसकी आंखों में गहराई है। उसने पूछा, 'कुछ कहानी बनी?'

'यह तो तुमने अपनी आत्मकथा लिख डाली।' मैंने कहा।

'आत्मकथा क्या कहानी नहीं होती? इसका नायक क्या समाज से कटकर जीता है? मैंने जो जिया है, उसी का आख्यान प्रस्तुत किया है।' फिर कुछ रुककर बोला, 'सामान्य जन की कहानियां लिखने वालो, मेरी कहानी पढ़ो इसके शब्द-शब्द में पीड़ा है। शब्द-शब्द में अर्थ है। हां, कहानी का नाटकीय अंत मैंने नहीं किया है। कर भी कैसे सकता हूं! जीवन तो प्रवाह है।'

मैंने उसकी प्रतिक्रिया को महसूस किया, परंतु क्या कहता। मैं उसके आनंद में बाधा नहीं बनना चाहता था। मेरी आंखों में अविश्वास झलकता देख उसने सारे कागज वापस झटक लिये तथा क्रोध से जमीन पर पैर पटकते हुए कहा, 'तुम सब चोर हो। तुम केवल कल्पना के पंखों पर उड़ते हो। लिखने से पहले सामान्य जीवन में झांककर तो देखो, फिर सब उपमाएं भूल जाओगे।'

उसने मेरी तरफ हवा में थूक उछाल दिया और वहां से गायब हो गया।

मेमना

कोई आहत मेमना मिमिया रहा था।

वह फुलमां को बुरी तरह घसीट रहा था। वह बार-बार छूटकर बिजली की गति से पीछे की ओर दौड़ती, परन्तु उतनी ही तेजी से बूढ़ा उसे दबोच लेता। अपने पंजों में जकड़कर वह फिर उसे घसीटने लगता, वह फिर प्रतिरोध करती। दोनों में काफी देर तक रस्साकशी चलती रही। वे बुरी तरह हांफ रहे थे, परंतु फिर भी लड़ने की मुद्रा बनाए हुए थे। वे घायल मुर्गे थे, शायद घायल पहलवान, जो एक-दूसरे के प्रहार की प्रतीक्षा कर रहे थे।

वे आकाश में लटके हुए थे। चाहते तो एक-दूसरे को धक्का देकर नीचे गिरा सकते थे। दोनों के मन में यह विचार आया भी, परंतु···वे इस भयावह स्थिति के लिए तैयार नहीं थे। मृत्यु सामने दिखाई देती हो तो डर लगना स्वाभाविक है, परन्तु कभी-कभी किसी दूसरे को मृत्यु के मुंह में धकेलते हुए भी एक भय, एक अनिष्ट हवा में तैरकर धुंधला जाता है।

धौलाधार पर फिसल रही स्निग्ध चांदनी एकाएक मटियाने लगी। 'हुआ', 'हुआ' तथा सांप की फुफकार की मिली-जुली ध्वनि पर्वत-शृंखला से टकराने लगी। शायद किसी विषधर ने गीदड़ को लपेट लिया था।

फुलमां फुदक रही थी एक चिड़िया-सी, हंस-सी फड़फड़ा रही थी। वह एक चोटी पर जा खड़ी हुई। उसने एक बड़ा-सा पत्थर नीचे लुढ़का दिया। पत्थर के पहाड़ से फिसलने की गड़गड़ाहट सन्नाटे को चीर गई।

वह अपनी विजय पर मुस्करा दी। बोली, 'हूं! दब गए ना! बेवकूफ!

तुम्हारी बिट्टी हूं तो क्या हुआ ? बिट्टी को बिट्टी ही समझो न, मिट्टी नहीं। बड़े कुम्हार बने फिरते हैं, जैसा चाहेंगे वैसा रूप दे लेंगे। क्या बात है ? लेकिन यह मिट्टी बेजान नहीं है, इसमें भी धड़कता दिल है तथा खून में कल्पना के बिम्ब हैं। यह कुम्हार के हाथों को भी जकड़ सकती है··· तोड़-मरोड़ सकती है। कुम्हार ? जो खुद मिट्टी है।

शायद यह कुम्हार का कसूर नहीं है। इसका सारा कारण बर्फ की परतों में दब जाना है। सब गड़बड़ ठंडी खोपड़ी की है। बर्फ में जमी हुई खोपड़ी, बर्फ का ही एक ठंडा टुकड़ा। निरा पत्थर···स्पंदनहीन, संवेदनहीन।

'हुआ', 'हुआ' तथा फुफकार की मिली-जुली ध्वनि शान्त हो चुकी थी। शायद गीदड़ ठंडा हो चुका था।

उस दिन वह बहुत-बहुत खुश थी। उसने अपना चोला-डोरा उतार फेंका था। वह बार-बार मेमने को चूम रही थी। मेमना, जो नग्न घूमता है। मेमना, जो कभी कपड़े नही पहनता···मेमना, जो देवताओं-सा मीठा मिमियाता है। यह भी क्या जिंदगी हुई कि जब तक कपड़े फट न जाएं, तब तक उन्हें अपने ऊपर लटकाए रखो। हू-हू करते भेड़-बकरियों के पीछे चलते रहो। यों ही जिंदगी काट दो···जैसे कोई चील का पेड़ हो ···बस, अंतर केवल चलने का है। चील का पेड़ चल नही सकता और हम रुक नहीं सकते।

उसने चोला-डोरा उतार दिया था तथा चूड़ीदार पायजामा तथा कुर्ता पहन लिया था।

'तुम तो परी लगती हो।' वह धीमे स्वर में बोला था।

'सच ?'

'हूं-हूं, सच।'

'झूठा कहीं का !' और वह लजाई-सी, सकुचाई-सी छुईमुई हो गई। उसके भीतर की नारी जाग उठी थी। आदि मानव तथा आदि नारी में परस्पर आकर्षण का स्फुरण हुआ था। आदम ने हौवा को पहचाना था।

छन्नू की आंखों में बिजली-सी कौंध गई थी। एक धार स्पष्ट उभर आई थी।

इससे पहले भी वे मिले थे, परंतु परिचय धीरे-धीरे आत्मीयता में बदलता गया था। यह मिलना बहुत बार तो नहीं, परंतु वर्ष में एक बार अवश्य होता है। सर्दियां बीत जाने पर जब सब गद्दी अपनी भेड़-बकरियां लेकर पर्वतों पर चढ़ने लगते, अपने घर लौटने के लिए गुनगुनाते, तभी गुज्जर लोग अपनी भैंसों की डार को लेकर मैदानों को छोड़ पर्वतों पर आ पहुंचते। यह स्थल होता था, जहां फुलमां तथा छन्नू की भेंट हो जाती।

बस, साल में एक या दो बार। वर्ष-भर विरह छाया रहता। एक को पर्वतों से नीचे उतरने की उत्सुकता रहती है तो दूसरे को पर्वतों पर चढ़ने की।

एक लम्बा अंतराल।

एक मधुर परंतु संक्षिप्त मिलन। प्रेमांकुर का पेड़ बन जाना।

वे न्युगल खड्ड के पास ठहरे हुए थे। हर वर्ष यहीं ठहरते थे। वह चोला-डोरा उतार आई थी। कुर्ते-पायजामे में बहुत ही चुस्त लग रही थी। अच्छी लग रही थी, आकर्षक।

मां-बाप ने उसे घूरकर देखा तथा सांप की भांति फुफकारते हुए भुटलो ने कहा, 'यह क्या पहन आई ?'

'कपड़े। क्यों, कुछ और दिखाई देता है ?'

'नहीं, यह हमारा पहरावा नहीं है।' घासीराम बुदबुदाया।

'पहरावा भी कहीं किसी की बपौती होता है ?'

'हां, होता है। जो तुम पहनकर आई हो, वह वन-गुज्जरों का पहरावा है। हम लोग ऐसे कपड़े नहीं पहनते।'

'तो मुझे भी वन-गुज्जर ही समझ लो।'

'बकवास बंद करो।'

'क्यों ? हम भी तो वन-वन, पर्वत-पर्वत खाक छानते फिरते हैं। उनमें और हममें कोई भी तो अंतर नहीं है।'

'अंतर क्यों नहीं है ! वे नी···दूध बेचने वाले···पानी तोलने वाले···'

'और हम ऊन बेचने वाले। हैं तो दोनों व्यापारी। तुम्हारी बात में दम नही है।' थोड़ा रुककर वह फिर बोली, 'वे तो दूध ही बेचते हैं और

नक फणिधर फुफकार रहा था। दोनों बेतहाशा भागे। सुनकू तो सांप की जकड़ में आते-आते बचा था।

घासीराम कांप गया था। इतना बड़ा अपराध···ऐसा भयानक अपशकुन ! सोते-जागते उसे दो नन्ही आंखें दबोचे रहती। वह बदहवास-सा घूमता रहता और बुदबुदाता, 'अच्छा ही हुआ, बारिश होने लगी थी ···अच्छा ही हुआ···लेकिन मैंने कुछ नहीं किया···उसकी इच्छा से ही सबकुछ हुआ···। जीवन तो बस कांच का एक गिलास है, जो कभी भी गिरकर टूट सकता है। मिट्टी का बर्तन बनाने वाला भी वह, तोड़ने वाला भी वह।' फिर उसे लगता, जैसे जीवन गद्दी के मेमने के समान है। क्या पता किस मोड़ पर वह उसे काटकर अपने देवताओं को खुश करने लगे।

दो नन्ही-नन्ही, सुन्दर-सी आंखों की चमक असमय ही बन्द हो गई थी···सुनकू ने ही उकसाया था···लेकिन वह स्वयं भी तो डांवाडोल था। नहीं, सब दोष सुनकू का ही था। ऐसा सोचकर उसे थोड़ी राहत मिलती। उसे हर बालक में वही दो आंखें दिखाई देती।

सर्दियों में जब भी वह अपनी भेड़-बकरियों को लेकर नीचे उतरता तथा न्युगल के पास से गुजरता तो उसकी आंखों में एक भय भर जाता। शायद वह यहीं कहीं भटक रहा हो। आत्मा तो भटकती ही होगी। कभी उसकी इच्छा होती कि नन्हे की आत्मा उसे आकर दबोच ले, तो इस अशान्ति से मुक्ति मिले। वह खोया-खोया रहता।

फिर उनके जीवन मे फुलमां का पदार्पण हुआ था। भुटलो तथा घासी-राम बहुत खुश थे, परन्तु फुलमां अजीब-सी लड़की थी। उसकी आंखों में एक प्रश्नचिह्न दिखाई देता था। शायद वे ही नन्ही आंखें···शायद उसी ने जन्म लिया हो—वह सोचता।

अभी वह पांच एक साल की ही थी कि न्युगल के निकट पहुंचकर बोली, 'बापू, चलो नीचे चलें।'

'क्यों ?' घासीराम ने पूछा था।

'मैं आपको एक वृक्ष तथा पत्थर दिखाऊंगी···वे दोनों बोलते हैं।'

'हैं ! क्या कहा, बोलते हैं ?' वह घबरा गया था।

फुलमां ठीक उसी स्थान पर पहुंच गई थी, जहां उन नन्ही आंखों की चमक विषधर की कुंडली में विलीन हो गई थी। वह बेतहाशा भागने लगा था···पत्थरों पर पड़ता-गिरता, उलझता-कूदता दौड़ रहा था··· उसकी दौड़ अनन्त थी···उसका मार्ग अथाह था।

फुलमां ने पुकारा था, 'बापू ! रुक जाओ।'

लेकिन वह नहीं ठहरा था। वह भाग रहा था···अपने-आपसे दूर ···कहीं बहुत दूर निकल जाने के लिए।

वृक्ष बोल रहा था, 'यही वह स्थल है।'

पत्थर चिल्ला रहा था, 'हां, मैं वही हूं···जहां दो नहीं, चार नन्ही-नन्ही आंखें एकाएक बुझ गयी थीं।'

सारे वातावरण में मेमने की मिमियाहट फैल गई। फुलमां तथा घासीराम न्युगल से बाहर आ गए थे···वे भागते जा रहे थे···फुलमां हैरान थी।

पृथ्वी डगमगा उठी। न्युगल के पत्थरों की गड़गड़ाहट दूर-दूर तक सुनाई दे रही थी।

'हिल्लन लगता है।' घासीराम बुदबुदाया।

'कौन-सी नई बात है।' भुटलो ने कहा।

'भूकम्प ! आह ! पृथ्वी का चलना कितना अच्छा लगता है ! परमात्मा करे, सारी दुनिया डोल जाए। सब अस्त-व्यस्त हो जाए। सबकुछ बदल जाए।' फुलमां सहज-स्वाभाविक स्वर में कह रही थी।

'क्यों ?' घासीराम ने पूछा था।

'ताकि सबकुछ बदल जाए। नए सिरे से निर्माण हो।'

'तू भी तो मर जाएगी फिर।'

'मरकर भी मैं फिर जी उठूंगी।' वह अपनी कल्पना में खो गई थी।

'अच्छा !' घासीराम के मुख से निकल गया था।

'हां।' फुलमां प्रसन्न थी।

क्षण-भर के मौन के बाद वह बोली थी, 'मां, वह बहुत ही अच्छा है।'

'कौन ?' समझते हुए भी उसकी मां ने पूछ ही लिया।

'वही छन्नू। इतना लम्बा-चौड़ा ! तम्बे और कुर्ते में कितना अच्छा

लगता है।'

'तू बेहया हो गई है।'

'उसके पास बहुत भैंसें हैं।' फिर बोली, 'लेकिन मेमने नहीं।'

भुटलो फुफकार उठी, 'मैं तुझे उसका नाम नहीं लेने दूंगी···तूने समझा क्या है!' कहकर भुटलो ने जोर से फुलमां का कुर्ता खींच लिया, जो चर्रर करके फट गया।

फुलमां ने बाकी का कुर्ता स्वयं ही खींचकर फाड़ डाला। बोली, 'बस, खुश हो ना अब तो! लेकिन मैं चोला नहीं पहनूंगी···छन्नू मेरे लिए और कुर्ता लाएगा तो पहनूंगी।'

वह नंग-मनंग घूमने लगी। चूड़ीदार पायजामे में और भी लम्बी लगने लगी। घासीराम शर्म से पिघलता हुआ उठकर चला गया था। वह फुफकारती रही थी।

समय से पहले ही वे पर्वतों पर चढ़ने लगे थे ताकि वे दूर निकल जाएं और फुलमां की छन्नू से भेंट न हो।

गीदड़ 'हुआ', 'हुआ' करने लगे थे।

घासीराम अचानक उठा और फुलमां को घसीटने लगा। वह दांत काटने लगी।

'मैं नहीं जाऊंगी!'

'तुम्हें जाना ही होगा!'

'नहीं···मैं उसे मिले बिना नहीं जा सकती!'

'तुम उससे नहीं मिल सकती!' फिर चालाकी से घासीराम ने कहा था, 'क्या पता वह आए ही नहीं!'

'आएगा क्यों नहीं! जरूर आएगा!'

तभी भुटलो एक नवजात मेमने को लेकर वहां पहुंची, जहां बाप-बेटी मुर्गों की तरह लड़ रहे थे और एक ही बार में मेमने की गर्दन अलग कर दी।

मेमने का आर्तनाद अब भी घाटी में गूंज रहा था।

अटकाव

उसने चिल्लाना चाहा, लेकिन वह चिल्लाई नही । मन हुआ कि दौड़ जाए, परंतु वह दौड़ी भी नहीं । जब भी वह अखिलेश के विषय में सोचती है, तो प्रायः उसे ऐसा महसूस होता है । उसने कितनी बार चाहा है कि निर्वसन होकर ठंडे-ठंडे फर्श पर लेट जाए, परंतु एक···दो···तीन का भय उसे ऐसा कर देने से रोक देता है···। सुषमा ने मेज पर पड़ी पुस्तकों पर से मिट्टी झाड़ी । जब कभी वह इन पुस्तकों को देखती है तो वह उन्हें उलटे-पलटे बिना नहीं रह पाती । जाने उसे इन पुस्तकों से क्या संतुष्टि मिलने लगी है । अब भी उसका ध्यान एक पुस्तक पर अटका है, किसी चुम्बकीय शक्ति से आकर्षित-सा । उसके माथे पर रेखाएं उभरने लगी हैं । वह विद्रूप हंसी हंसती जा रही है । समय की स्लेट पर एक घटना उभर आई है ।

अखिलेश की बहन उठकर चाय बनाने लगी थी । एकांत, पूर्णतः एकांत । क्षण-भर के लिए वातावरण घुटा-सा था, उसी भांति जैसे तूफान आने से पूर्व सागर शांत हो जाता है । मानसिक तनाव ढीला पड़ गया । अखिलेश बोले बिना नहीं रह सका था, 'सुषमा, तुम्हें पढ़ने का बड़ा चाव है ।' इतना ही कह पाया था वह । 'है तो सही ।' प्रत्युत्तर में सुषमा ने कह दिया था । दोनों चुप । बात आगे बढ़ी, 'उपन्यास अधिक पसंद करती हो या कहानियां ?' यह भी कोई प्रश्न है, सोचा था सुषमा ने । बोली, 'दोनों का अपना-अपना स्थान है । वैसे मुझे कहानियां ही अधिक पसंद हैं ।' फिर दूसरे ही दिन अखिलेश ने उसके हाथ में एक कहानी-संग्रह थमा दिया था । दो शर्तें भी लगाई थीं । एक यह कि सब कहानियों को पढ़े, दूसरे यह कि वह पुस्तक वापस नही करेगी । सुषमा ने तर्क करना उचित न समझा था ।

अखिलेश द्वारा लगाई गई शर्तों को सुनकर उसे खूब हंसी आई थी।

शर्तों में बंधी गांठें जब खुली तो सुषमा को आश्चर्य भी कम नहीं हुआ। उसने चाहा, वह वीणा से बात करे। अखिलेश की शरारत को वह छुपाना नहीं चाहती थी। उसे दिखाएगी वह कहानी, जो अखिलेश द्वारा दी गई पुस्तक में प्रकाशित थी ''नायक-नायिका के नाम अखिलेश-सुषमा ही थे''। संयोग मात्र ने अखिलेश को भावुक बना दिया था। कहानी की मुख्य पंक्तियां उसने रेखांकित कर दी थी। सुषमा ने कहानी को बार-बार पढ़ा था। पता नहीं क्यों, उसने वीणा को यह सब नही बताया। शायद इस आशंका से कि वीणा को यदि पता चल गया तो कही वह सचमुच ऐसा ही न समझ बैठे। शायद इसका कारण उसका संकोच था। उसने मन-ही-मन गुदगुदी अनुभव की थी कि अखिलेश उसे चाहता है।

इंजीनियरिंग का कोर्स पूरा कर आया है अखिलेश। शीघ्र ही बड़ी-सी नौकरी पर लग जाएगा। सुन्दर, स्वस्थ एवं सुशील है। फिर उसे यह जान-कर हैरानी हुई थी कि अखिलेश को इतना पढ़-लिख लेने पर भी कोई नौकरी नहीं मिल पा रही थी। 'वास्तव में तुम नौकरी करना ही नही चाहते।' सुषमा ने कहा था। 'मैं तो तुम्हारी नौकरी करने को भी प्रस्तुत हूं सुषी।' फिर बेकार इंजीनियरों के आंकड़े गिना देता।

वह फफक-फफककर रो पड़ी। दम घुटा-घुटा-सा लगा था उसे। मन का गुबार निकल पड़ा अश्रु-जल-धारा बनकर। किसी से कुछ नही कहा। उसे अपने पिता को बता ही देना चाहिए था। 'तुम्हारा गला घोंट दूगा। सुषम्रा, तुम···तुम मेरी पुत्री नहीं···नागिन हो। मैं तुम्हें जीवित नही रहने दूंगा। तुम जीवित रही तो मैं नहीं रह सकता।' बात कहने पर उसका पिता पागलों की भांति रो पड़ा था। सुषमा ने अपने पिता के पैर पकड़ लिए थे। उसका पिता एकदम पीछे हट गया था। सुषमा के हाथ से पुस्तक नीचे गिर पड़ी। वह चौंक गई। हकबकाई-सी खड़ी रही क्षण-भर के लिए। नार्मल हुई तो काम में लग गई, क्योंकि बेकार बैठती है तो सोचा करती है— कह नहीं पाती —भय जो है। एक ''दो···तीन का।

'सुषमा, अभी तक कमरा साफ नहीं हो पाया ?' सुषमा की मां माया ने कहा, परंतु सुषमा ने सुनी-अनसुनी कर दी। क्षण-भर को भी चैन

नहीं मिलती । किस-किसकी बात सुने । मन की बातें ही समाप्त होने में नहीं आती । छिड़ जाएँ तो चीटियों के ढेर-सी बिखर जाती हैं । वह स्वयं भी तो बिखर जाती है ।

'सुषमा, सुनाई नहीं दिया ?' मां फिर चिल्लाई ।

सुषमा ने संज्ञाविहीन आंखों से मां की ओर देखा और अपने-आपको समेट लिया । बोली, 'मां, जो आपने कहा वह तो सुन लिया मैंने । उसमें ऐसी बात ही क्या थी कि उत्तर देती ।'

'तू मुंहफट होती जा रही है ।' माया बड़बडाती रही, 'लड़कियों की नाक में जल्दी ही नकेल डाल देनी चाहिए । ऐसा न करें तो वे मां-बाप को घूर-घूरकर देखा करती हैं— मानो कह रही हों, तुम ही हमारे दुःखों का कारण । दुःख पूछो तो कहेंगी, मेरा दम घुटा जा रहा है । मैं मरी जा रही हूं— घबराई-सी, अजनबी-सी, सब परिचित चेहरे, धोखा है । माया का मन लेक्चर देने को हुआ, परंतु जानती थी कि सुषमा कड़ा उत्तर देगी ।

'मां जो बना दे, मैं वही बन जाऊंगी ।' अधिक नहीं बोली सुषमा । काम में लगी रही । काम कोई नहीं था । मां को ऐसे ही बोलने की आदत थी । सुषमा ने सोचा, कुछ पढ़ा जाए । एक पत्रिका उठाई । पढ़ने का मन न हुआ । खिड़की पर जा खड़ी हुई । आकाश में स्वप्निल रंगों का बना हुआ इंद्रधनुष देखा । संध्या उतर रही थी । रात्रि के आलिंगन-पाश की सूचक । धुंधियाया-सा वायुमंडल । अनेकों कीट-पतंगे । वह सिहर उठी । उसे भूलता ही नहीं था वह समय, जब उसने अखिलेश से कहा था, 'अंधकार हम दोनों को समेट लेता है—भटकने के लिए । अशांति की दीवार प्रति-दिन खड़ी हो जाती है । प्रकाश में मिल लेते हैं—हम दोनों निर्भय । प्रकाश-अंधकार । इन दोनों में एक खाई । यह खाई अखिलेश, अभी और कितनी देर बनी रहेगी ?' उसने उत्तर दिया था, 'अंधकार पर प्रकाश हावी होने ही वाला है । प्रकाश होगा, हम दोनों के मिलन की प्रभात फूटेगी नए सपने संजोकर···इसके लिए प्रतीक्षा अपेक्षित है ।'

वह बिस्तर पर लेट गई । उसे अपना शरीर अधिक स्थान घेरता-सा लगा । थकी-थकी-सी आंखें बंद होती जा रही थीं । वीणा पास होती तो हंसा-हंसाकर मार देती । उससे सारी बात कहके मन हल्का किया जा

सकता था, परंतु वह तो यहां से ऐसे गई कि वापस ही न आना हो। सुषमा को लगा कि वह ठीक से नहीं सोच पा रही। वीणा को गए अभी एक ही तो सप्ताह हुआ है। वह उसे तब भी बता सकती थी। बता देती तो अच्छा ही था। शायद वह बुरा मानती। बुरा मानना तो स्वाभाविक ही था। मैं तो फंस गई हूं। इधर भय बना रहता है—एक···दो···तीन का। अखिलेश, मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती। किसी भी मूल्य पर नहीं छोड़ सकती। मैंने तुम्हें अपना सबकुछ समझा है। तुम सिर्फ मेरे हो। जो तुम कहोगे, वैसा ही करूंगी। लेकिन उसका साथ छोड़ दो। मैं उसे सहन नहीं कर सकती अखिलेश! माना, वह मेरे से अधिक सुन्दर है, क्योंकि तुम ऐसा कहते हो। उसके अवयव मेरे से अधिक गठित हैं, परंतु एक बात बताओगे? यदि कल तुम्हें इससे भी अधिक सुन्दर स्त्री दिखाई पड़े तो क्या तुम इसे छोड़ दोगे? क्या तुम्हारा ऐसा करना उचित होगा? तुम···तुम तो वही हो जो कभी मुझे कहा करते थे, 'परमात्मा ने क्या खूब बनाया है तुम्हें। तुम किसी कवि की कल्पना का साकार रूप हो— सच!' 'तुम झूठ कहते हो अखिलेश!' सुषमा बोली, 'विश्वास से बड़ी कोई बात नहीं। तुम्हारे साथ इतने दिन घूमता रहा हूं। कुछ घुटन-सी अनुभव होने लगी थी। इसके साथ तो मैं शुगल में घूमता रहा हूं। मेरा मन तुम्हारा है। मन की शुद्धि शारीरिक शुद्धि से बड़ी होती है।' अखिलेश ऐसा कहकर चल दिया था। सुषमा का नारी-सुलभ हृदय तड़प उठा था। सर्प-दंश समान। पुकारती, 'अखिलेश, मत जाओ। तुम · तुम···मुझे क्यों छोड़ रहे हो। अखिलेश···।'

सुषमा इतनी जोर से चिल्लाई कि नंबर दो दौड़ा आया। हरिओम्। लड़कियों को अपने मां-बाप की भी शर्म नही रही। बेटी को तरेरती हुई बोली, 'अभी क्या बक रही थी? सारा घर सिर पर उठा लिया।' सुषमा ने कहा 'कुछ भी तो नही। मैं तो सो रही थी।' सपना याद करके वह घबरा गई। उसका मुख पीला पड़ गया, सहम गई —खरगोश की तरह।

नंबर एक—क्रोध-सर्प फुफकार रहा था, 'कौन है अखिलेश? बोलती क्यों नहीं? नहीं बोलेगी? मैं पूछ रहा हूं—तुमने किसका नाम लिया?'

नंबर तीन बीच में ही बोल पड़ा, 'इसे बंद रखो कमरे में, नहीं तो घर की इज्जत को चार चांद लगा देगी। पहले ही बहुत कुछ सुन चुके हैं।'

सुषमा चुप। आज तीनों बरस पड़े। मन हुआ कि कह दे, 'तुम्हें किसी से क्या ? कभी समय हो तुम्हें तब न।' उसने घूरकर इधर-उधर देखा। उसका पिता लाल-पीला हुआ जा रहा था। धप्प···धप्प ! सुषमा सन्न रह गई। उसका बाप यहां तक पहुंच सकता है—नहीं सोचा था सुषमा ने। इतने दिन से दबती-दबती चली आ रही सुषमा फूट पड़ी, 'तुम मुझे मारते हो। तुम कंजर-कंजरियां हो। तुम बाप नही, दुश्मन हो। तुम्हारा हो जाए सत्यानाश। मैं तुम्हारी जवान बेटी हूं न। पूरे सत्ताईस वर्ष की। इतनी बड़ी को मारते शर्म नहीं आती तुम्हें !' सुषमा हंसने लगी एकाएक। अखिलेश की ही तो माया—कहीं धूप कहीं छाया। उसने गा कर कहा। मूर्खो सुनो—मीरा के देवर ने उसे तंग करके घर से बाहर निकाल दिया था। शायद वह स्वयं बाहर निकल आई थी—लोक-लाज को तिलांजलि देकर। वह तुम जैसों के मुह पर थूकती थी। भगवान् ने उसेश रण दी। वह उसी में समा गई। पग घुंघुरु बांध मीरा नाची रे—नाची रे···रे।'

'उठो बेटी', माया ने कहा। सुषमा गाने से रुकी नही।

'बड़ी आई है बेटी वाली। कुलच्छनी कही की। मुझसे पूछते हैं अखिलेश कौन है ? नही जानते—वह कौन है ? वह तुम्हारा बाप है, बाप। तेरा खसम। हां, तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी है।'

नंबर एक और तीन तो दौड़े अपने कमरे की ओर। नंबर दो कांप गया। ऐसा भी हो सकता है—उसने नही सोचा था। सुषमा देखती रही। तीनों की बैठक हुई। विचार-विमर्श हुआ। सुषमा को पागल घोषित कर दिया गया। नंबर एक ने कहा, 'चरित्र रचती है। कहो तो मरम्मत कर देता हूं।' 'न, न,' पुकार उठे नंबर दो और तीन। तीनों में समझौता हो गया, परंतु किया क्या जाए ? नंबर दो ने सुझाया, 'सुषमा का विवाह कर दो।' नंबर तीन ने स्वीकृति में सिर हिलाया। नंबर एक ने प्रतिक्रिया व्यक्त की, 'आजकल तो सभी देर से लड़कियों के विवाह करते हैं। और फिर कौन-सी यह बूढ़ी हो गई है।'

'विवाह समय पर कर दिया जाए तभी उचित है।' मां बोली।

'समय-असमय अपने वश की बात थोड़े ही है। परमात्मा का दिया

धन भी पर्याप्त है, परंतु लड़का ढूंढ़ने के लिए इतना समय कहां से लाऊं ?' बाप ने कहा।

'समय नहीं मिलता तो उस समय ख्याल करना चाहिए था, जब एक के बाद दूसरा बच्चा पैदा करते चले गए।'

'कुदरत जो चाहती है, वही होता है।'

सुषमा को आती देखकर नंबर तीन तो भाग गया था।

'तो मैं तुमसे प्रार्थना करने आई थी कि मुझे पैदा करो ? मुझे दुनिया की रोशनी दिखाओ ? तुम दोनों नरक के कीड़े हो, जो···जो और कीड़े पैदा किए जाते हो। कीड़े तो स्वेच्छा से रेंग भी सकते है। हम तो रेंग भी नही सकते।' सुषमा बोली।

भयंकर जीव, सागर की गहराई। दो प्राणी सहमकर रह गए। उन्हें पता नही था कि सुषमा उनकी बातों को सुन रही है। कोहरे मे दुनिया डूब गई। उन्हें अपने अधेपन की गर्मी महसूस हुई।

सुषमा ने रबड़ की गुड़िया को सहारा देकर बिठाया। नई चूनर ओढ़ाई। गोटा-तिल्ला मढ़ा हुआ है। शरीर में उभार दिया। फिर बोली, 'तुम वीणा हो, हो ना ? कृष्ण की वीणा। वीणा, जिसको चटखा दिया गया हो। नही, माधुरी हो। अरी बोलो भी। बोलती क्यों नही ? लो। बोलेगा तेरा बाप भी। अखिलेश से तो आंख मटकाती अघाती नहीं थी। इधर बोलना भी छोड़ दिया। अखिलेश तुम्हें गुदगुदाता है। क्या मैं नही गुदगुदा सकती ? अरी लेट तो सही।' सुषमा ने गुड़िया को लिटा दिया और उसे अपने वक्ष से दबाने लगी। 'ओह ! तुम्हारा तो सांस गर्म हो गया है। ऐसा हीं होता छम्मो ! घबरा नही। तू मां बनेगी। मैं बच्चे का बाप। कितना प्यारा होगा वह बच्चा। फिर तुम मुझे उस बच्चे को पकड़ाकर कहा करोगी— जरा पकड़ो जी। मैं तो सारा दिन थक जाती हूं इसके पोतड़े धोते-धोते। पता है, फिर मैं क्या कहूंगा— तो जन्म क्यों दिया था सरकार ? ऐसा कहकर मैं पकड़ भी लूंगा।'

सुषमा जोर से हंस पड़ी। कमरा गूंज उठा।

'सुषमा !' नंबर तीन यानी सुषमा का भाई जोर से चिल्लाया। वह बोली नहीं। फर्श पर एक कोहनी के बल अधलेटी-सी पड़ी रही।

'बोलेगी या नहीं ?' भाई चिल्लाया ।

'नही । नही । नहीं ।' सुषमा कहती गई ।

'सुषमा, वीणा आई है ।'

'आई है तो तुम उससे विवाह रचा लो ।' भाई आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा था । सुषमा फिर बोली, 'तुमने प्यार किया है कभी ?' वह शर्म के मारे गड़ा जा रहा था । सुषमा को क्या हो गया । मां-बाप के बुझे-बुझे, लटके-लटके चेहरों पर उसे तरस आया । शायद सुषमा पर भी । 'क्यों, संकोच होता है क्या ? बहन का रिश्ता ही ऐसा है । तुम भी निरे बुद्धू ही रहे । बहन भी तो स्त्री होती है । नही होती क्या ?'

'सुषमा, होश से बात करो ।' नरेश से रहा नही गया ।

'मैं होश मे हूं । शायद नही हूं, क्योंकि तुम ऐसा कहते हो । तुम भी झूठ बोल सकते हो । सारी दुनिया के होश गुम हैं । प्यार का ढकोसला रचा जाता है । एक बात बताओ नरेश ! क्या तुम कभी मेले में गए हो ?'

नरेश संज्ञाहीन-सा, बौखलाया-सा उठकर चला गया । सुषमा बोलती रही, 'जानते हो, मेले में लोग-बाग क्यों जाते है ? बड़े भोले हो । तुम दूसरों की बहनों को छेड़ते हो ।···बहनें भी छेड़छाड़ करती हैं । उस दिन की बात याद है जब मां के साथ मैं सतसंग मंदिर में गई थी । तुम शायद नही गए थे । शायद गए थे । नही गए थे । तुम साथ होते तो नंग-धड़ंग कैसे नहाती । ऐसे घूमने में, पानी की धार के नीचे बैठने में कितना मजा आता है । विशेष बात तो बतानी मैं भूल ही गई । मैं भी कैसी होती जा रही हूं ।'

सुषमा ने अतृप्त आंखों से देखा । उसकी मा तनी खड़ी थी । 'बस भी करेगी या वकती ही जाएगी । किसी की तो लज्जा कर ।' बहुत ही संभल-कर कहा सुषमा की मां ने ।

गुड़िया को वक्ष से भीचकर सुषमा बोली, 'नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली, बिल्ली हज को चली । मां, तुम तो समझ सकती हो । इस लिए खास बात तुम्हें बताती हूं । दुनिया की कोई औरत ऐसा किए बिना रह ही नहीं सकती । मैंने कहा न, मैं वहां सतसंग मंदिर में नहा रही थी । पता है, उस पास वाले वृक्ष पर कौन बैठा था ? वह था अखिलेश । वह मुझे देखकर हंस रहा था । मुझे बड़ा ही अच्छा लगा । और कर भी क्या

सकती थी ? तुम मंदिर में बैठी पूजा में निमग्न थीं । शायद भगवान् के चरणों में नाक रगड़ रही थीं । रगड़ा करो नाक । तुम्हारे लिए यही उचित है । जिंदगी-भर पाप करो और फिर राख की ढेरी में शोला है न चिंगारी ।'

वह उठकर जाने लगी तो खींच लिया सुषमा ने । मां की स्थिति जाल में फंसे पक्षी जैसी हो गई । सुषमा के गोल-गोल मुख को देखकर उसकी मां प्रसन्न होती थी, परंतु आजकल उसे लगता है कि उसकी बेटी का अंग-प्रत्यंग विद्रोह कर उठा है । वह अपनी बेटी की सहायता करना चाहती है, परंतु उपाय नही सोच पाती ।

'मां, तुम तो पत्थर हो, पत्थर । तुम्हारे पति क्लब में चले जाते हैं और तुम घर में बैठी जम्हाइयां लिया करती हो । पतिदेव के गुण गाते नहीं अघातीं । वहां जो कुछ वह करते हैं, तुम नहीं जानती । नाचा करते है, बन्दरों की भांति । फिर अचानक बिजली चली जाती है । शायद जान-बूझकर ऐसा किया जाता है । सब अंधेरे में अंधिया जाते हैं । कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष की बांहों में आ गिरती है, जैसे युगों-युगों से इसी क्षण की प्रतीक्षा करती आई हो । ऐ पत्थर ! कभी तूने भी किसी की बांहों में गिर कर देखा है ? तुम्हारा पति अगर मेरा पति होता, मैं उसे वहीं से घसीट लाती । तुम हो कि जी रही हो—किसी का नाम लेकर—उसके पैरों की मिट्टी तुम्हारे लिए सोना है । मैं सत्य कहती हूं मां ।'

मां ने चाहा कि जोर से कहे—सुषमा, परमात्मा के लिए चुप हो जा । चुप हो जा बेटी, परंतु आवाज गले में ही अटक गई । तरल होकर आंखों में फैल गई । इतने में वीणा आती दिखाई दी । मां ने सन्तोष की सांस ली । शायद उससे बातचीत करके उसका मन हल्का हो जाए । वीणा आई । सुषमा के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गई । मां उठकर चली गई । वह बहुत कुछ कहना चाहती थी वीणा से, परंतु क्या कहती ।

'तुम वीणा हो ।' धीमे से सुषमा बोली और अपने मुंह को वीणा के मुंह के पास ले जाकर उसे पहचानने का प्रयत्न करने लगी ।

'मैं वीणा ही हूं । ऐसे क्यों घूरती है !' वीणा ने आश्चर्य से कहा ।

'तुम वीणा नहीं हो, नहीं हो । तुम माधुरी हो ।'

वीणा घबराई क्षण-भर के लिए, लेकिन समझते देर नहीं लगी ।

माधुरी ने सचमुच अच्छा नहीं किया। उसे चाहिए था, सुषमा का ध्यान रखती। ऐसी स्थिति में ध्यान रखता भी कौन है। या फिर अखिलेश को ही सोचना चाहिए था। इसमें मैं भी तो दोषी ठहरती हूं। न सुषमा मुझसे मिलने आती, न मैं उसे अपने भाई से मिलाती। और न ही··· परंतु जैसा हम विचारते हैं, सदा वैसा ही तो नहीं होता। उसने सुषमा की बुझी-बुझी आंखों की ओर देखा। फिर उसकी दृष्टि उस रबड़ की गुड़िया पर जा टिकी, जिसे सुषमा ने पकड़ रखा था। उसकी इच्छा हुई कि सुषमा को सांत्वना दे, परंतु ज्यों ही सुषमा की ओर देखती, कांप जाती।

'वीणा! ओ माधुरी! तुम भी धोखे में न आ जाना। मानव अपने-आपको पागल कुत्ते से कम नहीं समझता। डांट-फटकार। दिन-भर यही काम। अंधकार में पालतू जानवर।'

गुड़िया को सम्बोधित करके बोली, 'मां, तुम्हारा जमाना लद गया। सोचती हूं कि एक ऐसा नारी दल तैयार किया जाए जो मर्द को नारी बना दे। उसके होश ठिकाने लगा दे। मैं अखिलेश जैसों की हड्डियां मरोड़ दूंगी। अब तो नारी पुरुष की इच्छा का भक्षण है। फिर नारी की इच्छा सुप्रीम होगी। नर विवश-सा हड्डी के टुकड़े को तरसेगा। नारी के पंजों में, शिकंजे में फंसे पुरुष की दशा कैसी होगी?

'मां, तुम मेरी बात को तो सुनतीं ही नहीं। इतने दिनों से सोच रही हूं, नारी दल बनाने की। जो मर्द नारी बनकर रहेगा उसे पालतू कुत्तों की भांति रखा जाएगा। जो नर खूंखार बनने का प्रयत्न करेगा, उसकी खाल उधड़वाकर सूखने के लिए डाल दी जाएगी। फिर देखूंगी, साले कैसे धोखा देते हैं।'

'सुषमा! तुम्हें क्या हो गया?' उदास वीणा ने पूछा।

'तुम्हें पता तो है।'

'तुम इतना बोलने क्यों लगी हो?'

'मैं कहां बोलती हूं। चुप रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है। तुम आई हो तो क्या तुम्हारे साथ न बोलूं। यह गुड़िया है मेरी। कहीं यह बोर न हो जाए। इसलिए इससे बातचीत करती हूं। इसका प्रेमी आ जाए

तो इसे उसके हवाले कर दूंगी। फिर इसे कोई दुःख नहीं होगा। मैं ही इसकी मां हूं, मैं ही इसका बाप।' सुषमा ने बड़ी गंभीरता से समझाया वीणा को।

वीणा के आगे बिछ गया है अतीत। सुषमा का शर्मीलापन। दोनों साथ पढ़ती थी। एक दिन वीणा ने मजाक में पूछा था, 'तुम विवाह करवाओगी?' छिः-छिः, मैं क्यों किसी की दासी बनने लगी?' सुषमा बोली थी और फिर छुई-मुई-सी हो गई थी। 'और तुम?' 'मैं तो करवाऊंगी ही।' वीणा ने हंसकर कहा था। फिर वीणा को पता चल गया था कि अखिलेश और सुषमा बंधे-बंधे से रहते हैं।

'सुषमा, तुम्हारे मन में प्रेम देवता उग आया है?'

'यह भी कोई पेड़-पौधा है जो उग आया है!' प्रत्युत्तर मिला। फिर तो सुषमा ने अखिलेश की प्रशंसा के पुल बांध दिए थे।

'उससे मिला करती हो ना?' मज़ाक करना चाहा था सुषमा ने।

'उससे किससे?' सुनकर वीणा का रंग उड़ गया था।

'मिलना कोई बुरी बात थोड़े ही है। मेरा अर्थ है कि यदि घर वाले तुम्हें नहीं मिलने देते तो मैं प्रबंध कर सकती हूं।' दोनों के मुख से हंसी के फुवारे छूट पड़े। वीणा ने सुषमा की ओर देखा। वह कांप उठी। यह सब उसके लिए कल्पनातीत था। भाई से भी कहती, लेकिन वह यहां था कहां?

सुषमा अभी सो रही थी। रात को बहुत देर तक बोलती रही थी। आजकल उसे चैन ही नहीं पड़ता था। मां चिंताग्रस्त रहने लगी। दिन-रात उसे सुषमा का ध्यान रखना पड़ता। रात को देर से सोती है। सुबह जल्दी उठती है। प्रातः उठते ही उसे लगता है, मानो थकान का पहाड़ टूट पड़ा हो। नरेश को सामान संभालते देखकर पूछा, 'बेटा, क्या कर रहे हो?' उसने कहा 'मां, मैं चला जाना चाहता हूं।' 'लेकिन क्यों? क्या यहां रहना अच्छा नहीं लगता? सुषमा की हालत तो देखो। मैं तो मर जाऊंगी।' ऐसा कहना चाहा उसकी मां ने, लेकिन कह नहीं पाई। इतना ही बोली, 'अभी तो तुम्हारी छुट्टियां है, कुछ दिन और रह लेते।' 'मां, मैं तो जाना चाहता ही नहीं था, परंतु···।' मां समझ गई। नहीं बोली। नरेश ने झुकी आर्द्र आंखों को पोंछा और चल दिया। एक शून्य दृष्टि उसका बहुत दूर तक पीछा करती रही।

मां को लगा, घर की दीवार पर से लिपी-पुती मिट्टी की परत उतर-कर गिर पड़ी। उसका गला रुंआसा-सा हो गया। एक बेचैनी ने उसे आ दबोचा। वह एकदम उठी और सुषमा के कमरे में गई। सुषमा सो रही थी। मां का दिल धड़का। थोड़ा आगे बढ़ी। आहट हुई। चोरी पकड़ी गई। सुषमा की आंखें चमक रही थीं। मां लौट पड़ी। सुषमा का विवाह कर देना चाहिए। अब उससे कौन विवाह करेगा ? तब लड़के वाले स्वयं आकर सुषमा का रिश्ता मांगते थे, परतु इन्हें कोई पसंद ही नहीं आया था। कहते थे, जो स्वयं चलकर रिश्ता मांगता है, वह या तो लालची है या उसके लड़के में कोई नुक्स है। माया को अपने विवाह की बात याद हो आई। उसका विवाह चौदह वर्ष की आयु में हो गया था। तब उसे कुछ भी पता नहीं था। सुषमा सत्ताईस वर्ष की हो गई। अब तक विवाह हो जाना चाहिए था। फिर इतना कुछ तो न बोलती। विवाह लज्जाशील बनाता है नारी को। अपनी प्रथम भेंट को स्मरण करके वह हंस पड़ी।

जब भी वह अपने पति से मिलती है, तो उसका पहला प्रश्न सुषमा होती है। अब उसके पति ने स्वयं ही पूछ लिया, 'माया, सुषमा का क्या किया जाए ?'

'हमारा दुर्भाग्य है।'

'पागल है।'

'बातें तो पूरे तर्क से करती है।'

'तर्क करती है। निरी बकवास करती है।'

'उसके साथ भी अंट-शट बकेगी। बात सारे शहर में फैल जाएगी।'

दोनों चुप हो गए।

पति ने संकेत किया स्टोर की ओर। वह कुछ कहना चाहते थे। दोनों वहां खड़े रहे। फिर सुषमा की मां बोली धीमे से—'क्या बात है? यों परेशान क्यों हो ?'

'माया, सुषमा से मैं बहुत तंग आ गया हूं। मैं और अधिक सहन नहीं कर सकता।' उसने फिर अपनी पत्नी की ओर ध्यान से देखा, मानो पूछ रहा हो कि अर्थ समझ गई या नहीं ?

'नहीं-नहीं ? ऐसा नहीं हो सकता। मैं उसकी मां हूं। उसे डॉक्टर के

पास ले जाऊंगी। उसका उपचार करवाऊंगी।' भयभीत मां का हृदय दहल उठा।

सुषमा अपनी मां की आवाज सुनकर आ गई थी। अपनी मां का अंतिम वाक्य सुन लिया था उसने।

'देखा न मां, मैंने तुम्हें कहा था न कि ये पति जल्लाद होते हैं। सारी उमर औरत को दबाते रहते हैं। औरत न दबी तो हर प्रकार का ढंग अपनाते हैं उसके स्वाभिमान को मिटाने के लिए। बंदर घुडकी देंगे, मैं जा मरता हूं, फिर तुम सुखी होकर रहना। जिस यार से चाहो, गुलछर्रे उड़ाना। उसके इतना कहते ही तुम जैसी औरतें पैर पकड़कर कहती हैं, प्राणनाथ! मेरे से भूल हो गई। मैंने ऐसे शब्द क्यों कहे? मेरी जल जाए जबान। फिर पतिदेव और चौड़े हो जाते हैं।

'इन्हें जूते का जवाब जूते से दिया जाए तो ठीक रहते हैं। नारी दल की व्यवस्था हो जाए तो मैं भी अखिलेश की खाल उधड़वा दूगी। उससे अन्याय नहीं, न्याय होगा। उसे कटघरे में खड़ा किया जाएगा। उससे बोलने के लिए कहा जाएगा। तब वह सिर झुकाएगा। झूठा आदमी कभी बोल सकता है। दो-दो, तीन-तीन से प्रेम करना सिखलाऊंगी। उसकी औरत को उसी के सामने किसी और मर्द के साथ···फिर देखें क्या करता है। बोलेगा। कुछ न कुछ। उसका इलाज वही किया जाएगा, जो तुम्हें बता चुकी हूं। तुम तो पत्थर हो मां। तुम्हारी तो कुछ समझ में ही नहीं आता।'

'सुषमा! सुषमा! चलो अपने कमरे में।' क्रोध मे उसका पिता बोला।

'दीवार मुझको बांध सकती आज क्योंकर।' गाती हुई सुषमा चल दी अपने कमरे की ओर। उसका ध्यान कमरे में लगे कैलेंडर पर चला गया। हैरान हुई कि उसका ध्यान पहले वहां क्यों नही गया। कितना सुंदर चित्र है। एक मछली पानी के बाहर तड़प रही है। स्त्री के हाव-भाव बतलाते हैं कि मछली तथा उसकी अपनी मनःस्थिति में साम्य है। स्त्री जवान है।

सुषमा ध्यानपूर्वक देखती रही। फिर अचानक बोलने लगी, 'तुम्हारा शरीर शीघ्र ही थुल लथ हो जाएगा। शरीर का गठन सदा एक-सा नहीं

रहता। तुम दमयंती तो नही हो। हां, वही हो सकती हो। परमात्मा ने तुम्हें कितना सुंदर बनाया है। छोड़ गया नल-सा निष्ठुर कोई। तुम्हारा भला चाहता होगा। ये लोग भलाई का ढोंग मात्र रचते हैं। मुझे भी छोड़ गया जालिम। एक दिन उसने कहा था—'सुषमा, मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता। तुम मेरी जान हो। दुनिया इधर की उधर हो जाए, परंतु मैं तुम्हारे साथ हूं।' हर औरत जानती है कि उसे फुसलाने के लिए लोग बीसियों बातें करते हैं। फिर भी वह मृग-मरीचिका को सच मान लेती है। फिर जानती हो, क्या हुआ? मैंने उसे एक अन्य लड़की के साथ देखा। फिर और किसी के साथ। मुझे विश्वास नही होता था। मैं कांप-कांप गई। एक दिन मैंने पूछ ही लिया, 'उस लड़की से तुम्हारा रिश्ता?' 'जो तुम्हारे से।' मैं गभीर हो गई। 'नही बाबा, नहीं। तुम कहां और वह कहां? तुम्हें तो मैंने चाहा है। उसके साथ तो शुगल मात्र है। केवल मनबहलाव है।' अखिलेश ने कहा था। लेकिन जानती हो, उसने मुझे भी तथा पता नहीं और किस-किसको धोखा दिया। अरे, जहां तुम मनबहलाव करते हो, वही प्रेम करते हो। प्रेम तो बहाना मात्र है। भूख तो तुम्हें शरीर की है। फिर जानती हो, क्या हुआ—एक उसे ले गई अपने साथ। शायद वह गर्भवती हो गई थी। इसलिए भागना ही उन्होंने ठीक समझा। दौड़कर कहां अपने बाप के घर बैठ जाते। पुलिस पकड़ लाई थी—ऐसा मेरा विश्वास है। उसकी पिटाई भी हुई होगी। साले को नानी याद आई होगी। अभी जरा नारी दल बन जाए। फिर देखना क्या दंड देती हूं। इसका भी दिल तोड़ा जाएगा। उसकी अग्नि बढ़ा दी जाएगी। तड़पेगा। मर जाएगा, दम घुटकर अपनी ही आग में। सुषमा ने पैंसिल से कैलेंडर पर बनी औरत में छेद करते हुए कहा, 'शर्म नहीं आती इस प्रकार शरीर को उघाड़ते हुए। अभी तुम्हारा शासन कहां हुआ है कि तुम पुरुषों मे नंग-धड़ंग चल सको। पुरुष बड़ा मक्कार है—बड़ा मक्कार है। नारी पर···' वह गाती-गाती एकदम रुक गई। नारी पर पुरुष के शासन की बात को मुख से निकालना तक नहीं चाहती थी।

सुषमा ने रबड़ की गुड़िया को सहलाया। कहने लगी, 'घबरा नहीं, तुझे तेरा सब कुछ मिलेगा। मैं जो हूं तेरे साथ। पुरुष लाख कोशिश करे,

हम अपनी जिद से नहीं हटेंगी। पर देखना, किसी के साथ भाग न जाना।'

सुषमा को याद आया वह दिन, जब उसका जीजा आया हुआ था। झेंपते हुए उसने कहा था, 'सुषमा, तुम्हें क्या दु ख है?' 'दु.ख? मुझे? जीजाजी, आप क्या बात करते हैं? दु ख पूछना है, तो जीजी से पूछो, मैं कौन हूं जिससे दु.ख पूछते हो।' कंवरलाल चुप हो गया था। कहता भी क्या? साहस बटोरकर फिर बोला, 'तुम्हारा विवाह करा दें?' 'किससे? तुम्हारे साथ चलूं? तुम्हें शर्म नहीं आती? एक लड़की से विवाह करवा लिया— थोड़ा है क्या?' देख, कैसा घूर रहा है, जैसे चील रोटी को। आंखें निकाल दूंगी। सोचकर, मन ही मन घटना को दोहराकर वह पुलकित हो उठी। उसकी विजय निहित थी उसमें।

कंवरलाल ने अपने ससुर से कह दिया था कि सुषमा का कुछ नहीं बन सकता। वह तो बातें ही ऐसी करती है, जो सुनी नहीं जा सकतीं। उसका उपचार कराया जाना चाहिए। उसका ससुर बोला नहीं था। सास भी चुप रही थी। उन्हें पहले से ही सब पता था। सोचा था, शायद कंवरलाल से कुछ कहे।

रबड़ की गुडिया सजी-संवरी पड़ी थी। उसे लाल चूनर ओढ़ा दी थी सुषमा ने। कई दिनों से सुषमा की दुनिया केवल गुड़िया तक ही सीमित थी। वीणा भी मिलने नहीं आती थी। एक दिन घर आई थी, लेकिन मां से मिलकर लौट गई। बड़ी बहन को आए भी एक अरसा हो गया है। सुषमा गुड़िया में ही सभी के चरित्र आरोपित करके मस्त थी! उसी से बातें करती रहती थी। कई बार उसे लगता है कि वह स्वयं भी तो गुड़िया है — रबड़ की गुड़िया जो तोड़ी-मरोड़ी जा सकती है। जो प्रहारों को चुपचाप सहन कर लेती है। किसी से शिकायत नही करती। शिकायत कर ही नहीं पाती। करे भी तो किससे!

तुम जवान हो गई हो। सत्ताईस वर्ष की हो, मां का कहना है कि विवाह कर देना चाहिए। पिता भी कहते हैं कि कर ही देना चाहिए। डाक्टर ने परामर्श दिया है कि यदि विवाह नहीं करोगे तो परिणाम कुछ भी हो सकता है। सुषमा हंस दी थी। अरी, तुम भी हंसो। विवाह नहीं करवाना चाहती। एक बार कहो तो सही। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा

सकती । तुम्हारी भावनाओं को मैं सब समझती हूं। मैंने भी प्रेम किया था । मुझे कहते थे—तुम्हारा विवाह कर देते हैं । लेकिन उससे नहीं करते थे— वैसे तो वह भी ऐसा ही निकला । दोष इनका भी नही । क्या तुमने भी प्रेम किया है ? कही से तुम्हारा दिल टूटा हुआ तो नही जो रोने लगी हो ? अरे, संकोच क्यों करती हो । बड़ी मुश्किल से इन्हें ध्यान आया है तुम्हारा विवाह करने का। अब यदि तुम चुप हो गई तो फिर ऐसा अवसर नहीं आएगा। खुश हो गई न विवाह की बात से। मैंने तो सोचा था, तुम मेरे पास से जाना नहीं चाहती होंगी। तुम्हारा प्रेम मैं भूल नही सकती । तुम न होतीं तो मैं पागल हो जाती । वहां तो जाओ जी । एक बात मेरी भी मानो । अपने पति का दिल अवश्य तोड़ देना ।

सुषमा ने इधर-उधर देखा । घुटन के मारे बुरा हाल था। मन में लपटें भड़क रही थीं। मैं बंदिनी बनकर नहीं रह सकती । मैं भांप गई हूं । बारात आएगी । दूल्हा आएगा गुड़िया ! ओह हो ! तुम पति को देखना चाहती हो ? अब क्या लाभ ? अब तो सब कुछ होने वाला है । दूल्हा होगा ऐसा-वैसा टी० बी० का मरीज । अखिलेश को एक नहीं कई लड़कियां मिल सकती हैं···मिली हैं···क्या मुझे कोई लड़का न मिलेगा···शुगल तो मैं भी कर सकती हूं, लेकिन ··

सुषमा ने तिमंजिले मकान की छत से नीचे तारकोल की चौड़ी सड़क पर जाते हुए प्राणियों को देखा । दूरी एक बार बढ़ी, फिर कम हो गई । गुड़िया को छाती से लगाया । फिर एकदम नीचे सड़क पर फेंक दिया। सुषमा की हंसी बंद नहीं हो रही थी—कही कोई अटकाव आ गया था ।

अपने-अपने दुःख

लालाजी छिटककर एक ओर जा बैठे थे। क्षणभर सोचने के बाद फिर उठे तथा चिलम भरकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। हुक्के के श्वास-निःश्वास की धमाचौकड़ी से स्पष्ट झलकता था कि लालाजी के मन में कोई बहुत बड़ा तूफान उठ खड़ा हुआ था, जिसे वह नियंत्रण में नहीं ला पा रहे थे। अस्तित्व की नपुंसकता ने उन्हें बुरी तरह दबोच लिया था।

यह संयोग मात्र ही था कि उनके तीनों लड़के आज अचानक उनसे मिलने चले आए थे। लगभग ग्यारह बजे होंगे जब मंझला लड़का अशांत अपनी पत्नी सहित आ पहुंचा था। पिता के चेहरे पर उदासी के चिह्न देखकर उसे दुःख हुआ, परंतु फिर स्थिति की गंभीरता एवं संबंधों की तरलता को समझता हुआ वह चुप ही रहा। मां ने तुरंत चाय के लिए पानी रख दिया तथा अपने पति से बोली, 'कुछ नमकीन ले आओ।'

लालाजी आग्नेय नेत्रों से अपनी पत्नी की ओर देखकर बोले, 'नमकीन? अपना सिर देकर ले आऊं? आज पंद्रह तारीख हो गई, साहबजादों में से किसी को भी ध्यान नहीं आया कि यहां भी पैसे की आवश्यकता है। इनके बाप ने रोकड़ जमा कर रखी है यहां।'

'तो कर लेते रोकड़ जमा। तुम्हें किसी ने रोका था क्या? मुझे भी तुम्हारी वजह से ही लड़कों का मुंह ताकना पड़ता है।' मां के स्वर में खीझ थी।

'अशांत से बहुत आशाएं थीं। इसने सब गड्डमड्ड कर दिया। जवानी में मैंने जो भविष्य का सपना संजोया था, वह चकनाचूर कर दिया। पति-पत्नी दोनों लगभग दो हजार रुपए प्रति माह कमाते हैं, पर मां-बाप

के लिए पचास रुपए से ज्यादा कभी एक कौड़ी नहीं भेजते।' लालाजी का अभी भाषण देने का मूड था, परंतु पत्नी ने स्थिति को भांपकर दो रुपये का नोट निकालकर दे दिया।

लालाजी के चेहरे पर क्षणभर के लिए संतोष फैल गया और वह नमकीन लेने बाजार चले गये। मां ने स्थिति की गंभीरता को हल्का करने के लिए कहा, 'बेटा, अपने पिता की बातों का बुरा न मानना। इनकी तो ऐसी आदत ही बन गयी है। किसी भी बात से संतुष्ट नही होते। जरा-जरा बात पर झगड़ा। यह तो मैं ही हूं जो दिन काट रही हूं। कोई और होती तो कब की चली गई होती।'

अशांत अपनी मां की दार्शनिक मुद्रा पर खुलकर मुस्करा दिया। उसने ये ही वाक्य मां से पिछले पंद्रह साल में कई बार सुने थे। वहू की भी हंसने की मुद्रा बनी, परंतु वह हंसी को टाल गई, चेहरा विरक्ति का बनाए रही।

अभी चाय बनी ही थी कि अशांत का छोटा भाई आ पहुंचा। सुभाष के आगमन से लालाजी का चेहरा खिल उठा। वही तो है तीनों में से जो मां-बाप के लिए सबसे अधिक रुपया भेजता है। उसके आने से वैसे भी घर चहकने लगता है।

भाभी ने देवर से कहा, 'तुम्हें लड़की पसंद आ गई, हमें आश्चर्य हुआ, बधाई हो।'

सुभाष ठहाका लगाकर हंसा। फिर गंभीर होता हुआ बोला, 'मुझे तो अब भी लड़की पसंद नहीं है। हां, पिताजी को बहुत पसंद है। इसी-लिए मैं चुप रहा।'

'विवाह तुम करवा रहे हो या पिताजी ?' अशांत ने तीर छोड़ा।

'अपनी लड़कियों जैसी ही तो है वह।' मां बीच में बोल उठी।

'पता नहीं आजकल के लड़के अपने-आपको क्या समझते हैं। चार-पांच सौ रुपया क्या मिलने लगता है, दिमाग ही आसमान पर चढ़ जाता है। इतने नखरे···इस सुभाषड़े ने कोई चालीस-पैंतालीस लड़कियां देखी होंगी और पसंद कोई नहीं आई। लड़की का कद इतना होना चाहिए, रंग-रूप ऐसा हो, नाक इतनी लम्बी हो, कान बाहर निकले हुए न हों, मुंह पर कोई दाग न हो, रंग गुलाब की तरह दमकना चाहिए···और न जाने क्या-

क्या कहता है । जैसे लड़की आर्डर देकर बनवानी हो । अशांत ! इसे कहो, यह शीशे में अपनी शक्ल देखे ।' लालाजी ने फुफकारते हुए कहा ।

सुभाष ने तीखी नजर से अपने पिता को देखा तथा कुछ सोचते हुए बोला, 'पिताजी, आप पढ़े-लिखे होकर भी अनपढ़ों जैसी बातें करते है । समय को भी समझना चाहिए ।'

लालाजी उठकर घूमने लगे । कमरे में बैठे लोगों को सुनाते हुए बोले, 'हां बेटा, मैं समय से पिछड़ गया हूं । मेरी गांठ में पैसे नहीं हैं ना। मैं अनपढ़ हो गया हूं । वाह बेटा ! इसी दिन की प्रतीक्षा में तो मैं बूढ़ा हुआ हूं । जानते हो सन् अठाईस में सारे क्षेत्र मे मैं ही केवल बी० ए० पास था । रामनाथ के लड़के को मैंने ही इंग्लैण्ड जाने की सलाह दी थी । अब देखो, रामनाथ के पुत्र और उसके पौत्र कितना धन कमा लाए हैं । कई पीढ़ियां बिना कमाए आराम से बैठी खा सकती हैं । आज यह छोकरा मुझे समय को पहचानने का उपदेश दे रहा है ।'

'वह ठीक ही तो कह रहा है । रामनाथ के बेटे को इंग्लैण्ड भिजवा दिया और अपना बना-बनाया पासपोर्ट रद्द करा दिया क्योंकि समुद्र पार जाने में आपको डर लगता था । कही जहाज डूब गया तो सब यात्री घुट-घुटकर मर जाएंगे । न अपना कुछ बनाया और न मेरा ।' कहकर मां रुआंसी होकर उठ गई ।

'मेरी तो कई बार इच्छा होती है कि सिर में राख डालकर संन्यासी बन जाऊं और घर छोड़ कर कही चला जाऊं··· इसकी शक्ल भी न देखूं ।' लालाजी ने आहत स्वर में कहा ।

दोनों बेटे शांत बैठे थे ।

मां ने लालाजी की बात सुन ली थी। उनके पास जाकर बोली, 'चलो, राख मैं दे देती हूं । ये धमकियां सौ बार सुन चुकी हूं ।'

'हां-हां, तू तो यही चाहती है कि मैं घर-बार छोड़कर चला जाऊं ताकि तुझे मंदिरों में घूमने, नाचने-गाने की स्वतंत्रता मिल जाए । मैं कहता हूं, घर बैठकर पूजा क्यों नहीं कर लेती । भगवान का बास मन में होता है । नाचने-गाने से वह ज्यादा प्रसन्न नहीं होता ।'

'तुम नास्तिक हो । सत्तर साल के हो गए, कभी परमात्मा का नाम

नही लिया, कभी मदिर नहीं गए। सारा दिन हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हो।'

'तो तुम्हें मेरा हुक्का भी बुरा लगता है। सारे दिन मे दस पैसे का तंबाकू भी नही लगता। पैसे की ही वजह से तो मैं सिगरेट नही पीता। अब यह हुक्का भी तुम्हे भारी लगने लगा। ओह। मैंने कब सोचा था कि मेरा बुढ़ापा ऐसा कटे···पता होता तो पहले ही भविष्य का गला घोट देता।'

'पिताजी, हम जब भी घर आते हैं, तभी आप ये व्यर्थ की बातें ले बैठते हैं। इसीलिए···' कहता-कहता अशांत चुप हो गया।

'इसीलिए तुम यहां नही आते, यही न ? मैं सब जानता हू ये सब बहाने। तुम अपनी ससुराल में पंद्रह-पद्रह दिन पड़े रह सकते हो, अपने मां-बाप के पास एक रात नही काट सकते। तुम्हे कमरे मे दुर्गध आती है, यहां जगह की तंगी लगती है···मैं पूछता हूं, जब तुम तीनों भाई तथा तुम्हारी चारों बहने यहां रहती थी···तब भी तो यही घर था · और अब···।' कहते-कहते लालाजी रुक गए।

अशांत ने जब यह कहा कि दुनिया-भर के लोगो ने अपने-अपने मकान बना लिए हैं और लालाजी ने दो कमरे भी नही बनवाए तो लालाजी कराह उठे 'मैंने अपनी सब कमाई तुम्हें खिला दी। तुम्हें देखूगा जब बड़ी-बड़ी बिल्डिगें बनाओगे।'

घर मे शांति व्याप गई। किसी के पास कुछ भी तो शेष नही था कहने को। सबकुछ बांध तोड़कर पहले ही बह निकला था। हां, लालाजी ड्योढ़ी में चले गए थे। हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे तथा बीच-बीच में कुछ अस्पष्ट स्वरों में बड़बड़ा रहे थे—'जवानी यों ही काट ली। व्यर्थ सारे पैसे इनके लिए खर्च दिए। सोचा कुछ और था, हुआ कुछ और। बुढ़ापा ! हाय, बुढ़ापे में बेटे भी साथ छोड़ जाएंगे···कभी कल्पना भी न की थी।'

दोनों भाई अंदर बैठे पिता की अस्फुट बड़बड़ाहट को ध्यान से सुन रहे थे। अशांत ने सुभाष से कहा, 'जब भी आओ, पैसों के लिए झगड़ा। आज तक इन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि सब ठीक है, अच्छा है।'

सुभाष ने गहरी आंखों से अपने भाई की ओर देखा। बोला, 'आप पैसे भी तो नाम-मात्र को ही भेजते हैं। ऐसी स्थिति में सारा बोझ मुझे ही उठाना पड़ता है। समझ में नहीं आता, क्या करूं ! पास में एक नया पैसा

भी नहीं बचता ।'

अशांत ने विस्मय से सुभाष की ओर देखा, परंतु बोला नहीं कुछ । उसकी पत्नी ने कहा, 'सुभाष, ठीक है, तुम माता-पिता को अधिक पैसे देते हो, परंतु तुम नहीं जानते कि आमदनी के अनुसार व्यय बढ़ जाता है। और फिर हम पिछले पंद्रह वर्ष से रुपये भेजते आ रहे हैं । तुम दो ही वर्ष में थक गए। हमने तो लड़कियों के विवाह पर भी सामर्थ्य से अधिक खर्च किया है, लेकिन कभी जुबान पर नहीं लाए ।'

मां ने तीनों की ओर दीन-हीन दृष्टि से देखा ।

दोपहर तक तीसरा भाई भी आ गया। मां ने वर्षों बाद अपने तीनों बेटों को एक साथ देखा था। वह क्षणभर के लिए खिल उठीं, पर सबका अभाव भूल गईं, परंतु लालाजी की निराशा और बढ़ी लगती थी ।

जब सबने खाना खा लिया तो बातचीत के लिए लालाजी के पास जा बैठे । लालाजी ने सबसे बड़े पुत्र रमेश की ओर देखकर पूछा, 'कोई फैसला हुआ ?'

'कैसा फैसला ?' रमेश ने आश्चर्य से पूछा ।

'रिइंस्टेट हो गए या अभी नही ?' लालाजी ने पूछा ।

'···रिइंस्टेट का अभी प्रश्न कहां है ? अभी तो चार्जशीट भी नही दिया गया ।' रमेश ने कहा ।

'चार्जशीट ? क्यों, क्या बात हो गई ? पहेलियां क्यों बुझा रहे हो ? साफ-साफ बताओ ।' अशांत ने अधीर होकर पूछा ।

सुभाष भी मानो आसमान से नीचे गिरा । उसने कुछ भी न पूछना ही उचित समझा ।

लालाजी ने ही फिर कहा, 'जो आज तक किसी ने नही किया, वह तूने कर दिखाया । नौकरी में भी कहीं नखरे चले हैं ?'

'तो मैं चुपचाप मार खा लेता ?' रमेश गुर्राया ।

'तुमने उसे जरूर कुछ कहा होगा, अन्यथा वह मूर्ख तो है नहीं जो व्यर्थ इतना फसाद खड़ा करता।' लालाजी को रमेश पर विश्वास नहीं हो रहा था ।

'उसने मुझे चोर कहा था, जबकि वह स्वयं चोर है । कापियां दो गुने दाम पर बेचना चाहता था । मैंने कहा, मैं तुम्हारे लिए अपनी कक्षा को

लूट नहीं सकता···और···फिर···।'

लालाजी अंदर ही अंदर प्रसन्न हो गए। सिद्धांत के लिए डट जाना निश्चय ही नैतिक विजय होती है, भले ही उसके लिए थोड़ी-बहुत हानि भी हो जाए। टूट जाना कहां बेहतर है, परंतु झुक जाना जीवन नहीं, मरण है—ऐसा उनका अपना विश्वास था। बेटे की बात सुनकर उनकी छाती फूल गई···परंतु उन्हें थोड़ा दुःख भी हुआ। आर्थिक संकट की भयावहता के कारण। अभाव के सामने सब सिद्धांत चरमरा जाते हैं, परंतु··· वह उसे स्वीकार नहीं करना चाहते थे।

अशांत और सुभाष को जब इस घटना का पता चला कि रमेश ने अपने स्कूल के प्रिंसिपल को पीट दिया है तथा इसी सिलसिले में प्रिंसिपल ने उसे सस्पैंड करवा दिया है, तो वे चिंतित हो उठे। रमेश, रमेश की बीवी तथा चार बच्चे। पहले ही उनका ठीक से निर्वाह नहीं होता था, अब क्या होगा ? कैसे खर्च चलेगा ? अशांत ने तो कह ही दिया, 'भाई साहब ! यह तो बड़ा बुरा हुआ।'

'मैंने कब कहा कि अच्छा हुआ।' रमेश के स्वर में तल्खी थी।

'कई मास तक वेतन लटका रहेगा। सुभाष बोला।

'तो तुम्हें क्या चिंता है ? तुम नही द सकते, न सही।'

'फिर भी विपत्ति मे सहायता करना तो हमारा फर्ज है···लेकिन मुसीबत तो यह है कि पिताजी ने सुभाष की शादी की तारीख निकल वाली है। ऐसी स्थिति में···' अशांत अटक-अटककर अपनी स्थिति साफ कर रहा था।

'ठीक है। विवाह धूमधाम से करो। मैं अपनी आप देख लूंगा।'

'तुम क्या खाक देखोगे। तुम्हें चार हजार रुपये एरियर मिला था, जो सब-का-सब यों ही उड़ा दिया। मैं तो सोचता था, तुम दोनों सुभाष के विवाह पर पैसे दोगे।' लालाजी ने कहा।

'मैं तो खुद बुरी तरह से फंसा हूं।' रमेश बोला।

'फंसने से पहले तुम्हें सोच लेना चाहिए था।' अशांत ने कहा।

'आपके पास भविष्य की आंखें होंगी, मेरे पास तो वर्तमान समझने-देखने की भी क्षमता नही है। इतना छल, इतना कपट···मैं कभी कल्पना

भी नहीं कर सकता था।' रमेश आहत स्वर में कह गया।

'पिताजी, हमने अब तक के सभी विवाह उधार लेकर किए हैं। कई-कई वर्ष उधार चुकाने में दबे रहे। इस बार हमें उधार नही लेना चाहिए।'

'एक मास का वेतन। आठ सौ रुपया या एक हजार। इससे क्या होगा—बैंक से लोन ले दो। बहू के लिए हाथ-कान तो बनवाने ही पड़ेंगे।' लालाजी बोले।

'मैं उधार के हक में नहीं हूं।' अशांत बोला।

'तो विवाह कैसे होगा ?'

'जैसे आजकल के सभी विवाह होते हैं। लड़के के साथ दो आदमी चले जाएंगे। लड़की ले आएंगे। आडंबर की जरूरत नहीं।' रमेश ने व्याख्या की।

'अपनी शादी भूल गए ! तब जब मैंने यही परामर्श दिया था तो जनाब ने कहा था—यह कोई गुड्डे-गुड़ियों का विवाह नही, तो बस···' लालाजी ने कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया।

'अब जमाना बदल गया है।' रमेश का धीमा स्वर था।

'अच्छाऽऽ !' अब की बार सुभाष बोला।

'तीनों जने कम-से-कम दो-दो हजार रुपया दो। इससे कम नही चलेगा।' लालाजी ने आदेशपूर्ण स्वर में कहा।

'दो-दो हजार ! मेरे पास तो हैं नहीं।' अशांत ने कहा।

'मेरे पास भी नहीं हैं। मैं तो सस्पैंड हूं। मुझे ही अपने खर्च के लिए चाहिए।' रमेश बोला।

'मुझे तुमसे ऐसी आशा नही थी। मैं·· मैं खुद ही सारा प्रबंध कर लूंगा। मुझे तुम्हारे पैसों की जरूरत नहीं है।' फिर रुककर बोले, 'मैं सारी प्रॉपर्टी बेच दूंगा, मकान गिरवी रख दूंगा, परंतु शादी शान से करूंगा।'

'बिल्कुल ठीक। टूटा-फूटा मकान है। उसे बेच ही दो।' रमेश ने मुक्ति का सांस ली।

घर में सायं तक फिर कोई नहीं बोला। सभी अपने-आप में उलझ गए

थे। तीनों भाई जाने की तैयारी करने लगे !

अशांत ने चुपचाप सौ रुपए का नोट निकाल कर पिता की ओर बढ़ा दिया तथा दस रुपए का नोट अपनी मां की ओर। सुभाष ने भी सौ रुपए का नोट पिता के हाथ में दे दिया।

रमेश सब देख रहा था, लेकिन बोला कुछ नही। लालाजी ने उसकी ओर पचास रुपये बढ़ाते हुए कहा, 'चार्जशीट का जवाब सोच-समझकर देना। गर्मी खाने से नही बनता।' फिर धीमे से सुभाष तथा अशांत से बोले, 'जितने-जितने पैसे इकट्ठे कर सकते हो, करके मुझे भेज देना। दो-दो हजार तो करने ही होंगे। तभी सुभाष का विवाह हो पाएगा। इतने तो कर ही लेना।'

लालाजी के कहने पर उनकी पत्नी भी मुस्करा दी।

बढ़ता हुआ पानी

गड़-गड़-गरड़ !

बारिश जोर से होने लगी है।

'उस पार' दूलो के होंठ फड़फड़ाए।

हां, उसे उस पार अपने गांव में पहुंचना है।

ऊबड़-खाबड़ घाटी में नदी के ऊंचे-नीचे कगार, बीच में सरसराती नदी, दूलो अंधकार में आंखें फाड़-फाड़कर इधर-उधर देख रहा था। उसे लगा, मानो अंधियारे ने उसकी आंखों को चुंधिया दिया हो।

शायद पानी उतर जाए, उसने सोचा।

भरर् ! भरर् !

मैं अब उस पार नहीं पहुंच सकता—वह सोचने लगा।

उस पार प्रतीक्षा करती छोटी-छोटी आंखें अंधकार में उसके सामने तैर गयीं। दर्द पांव से सर तक सरसरा गया।

दूलो ने अंगड़ाई ली।

'मुझे उस पार पहुंचना ही है—' विश्वस्त स्वर में उसने अपने-आपसे ही कहा।

उस पार पहाड़ी पर एक छोटा-सा गांव है। सात-आठ घर खीलों की तरह यहां-तहां बिखरे हैं। खाने-पीने का सामान वहां नहीं मिलता, क्योंकि सात-आठ घरों के सिर पर दुकान नहीं चल सकती। और फिर वहां रहने वाले सभी लोग निर्धन हैं। बकरियां तथा भेड़ें पालते हैं। किसी-किसी घर में गाएं भी बंधी हैं।

राशन लेने उन्हें अपने गांव से पांच मील दूर शहर में जाना पड़ता है।

प्रातः जब दूलो अपने गांव से चला था तो आसमान स्वच्छ था। पानी का कोई टुकड़ा कहीं दिखाई नहीं देता था। मैं जल्दी लौट आऊंगा, सोचा था उसने।

शहर में अनाज मिल रहा था।

अनाज कई दिनों के बाद डिपो पर आया था।

लोग मानो पिल पड़े थे।

डिपो का अनाज सस्ता था—खुले बाजार में वही अनाज दो गुने भाव पर लेने की क्षमता दूलो में न थी।

चावल!

चावल नहीं मिलेंगे।

कहीं अकाल पड़ गया है—वहीं भेजे जा रहे हैं।

उसे समझ नहीं आ रहा था, अकाल क्या होता है। हां, इतना अवश्य पता था कि अकाल पड़ने पर लोग मरने लगते हैं।

कुछ उबले हुए चावल ले आता तो अच्छा ही था—सोचा दूलो ने।

उसकी जबान ललिया गई।

थोड़े-बहुत जो भी चावल बचे थे, आज सुबह पकाकर उसने अपने तीनों बच्चों को खिला दिए थे। उसका भी मन चाहता था—थोड़े-से खा ले, लेकिन ममता ने रोक दिया। बच्चों को जन्म दिया है तो उनकी भूख शांत करना भी उसका परम कर्तव्य है। कई दिनों से पड़ोसियों से मांग-मांगकर खा-खिला रहा था परंतु अब और नही मांग सकता था। मांगता भी तभी न, जब किसी के पास होते। सारे गांव में अनाज की किल्लत थी—कई दिनों से अनाज डिपो पर भी नहीं आया था।

दूलो ने पानी पीकर भूखे पेट पर हाथ फेर लिया था।

दूलो पानी में भीग रहा था।

थोड़ी-थोड़ी देर बाद कपड़ों को ससराकर पानी झाड़ देता। उसने ऊंचे पहाड़ों की ओर देखा। सब-के-सब चुंधिया गए थे।

'मित्राऽऽऽ'

'मित्राऽऽऽऽऽ।'

आवाज गूंजी और फिर बारिश में खो गई।

OSMANIA UNI

कोई साथी होता तो अच्छा था– सोचा दूलो ने।

रात्रि अगाध गति मे बढ़ती जा रही थी—रात्रि का बढ़ना दूलो के लिए पानी के चढ़ने का पर्याय था।

उसका अंग-अंग टूट रहा था।

पास से भीगा हुआ एक भयभीत सियार निकल गया।

बच्चे बिलबिलाते होंगे, सोचकर वह कांप उठा। इस साल वह घर की छत भी ठीक नहीं कर पाया। अंधेरी में मुडेर उड़ गऐ थे। उसमें इतना भी सामर्थ्य नहीं रहा था कि वह उसे डाल सकता, सुराखों में से पानी झर-झर कर उसके बच्चों पर पड़ता होगा।

वे मां-बच्चे ठिठुरे हुए उसकी तरफ देख रहे होंगे।

उसे याद आई उन दिनों की जब उसका विवाह हुआ था।

कितने चाव से वह उसे ब्याहकर लाया था।

नदी !

उस दिन भी चढ़ी हुई थी।

लेकिन !

तब जोश था—साथी थे। घंटों की प्रतीक्षा भी ऐसे ही समाप्त हो गई थी।

पांच वर्ष !

तीन बच्चों ने जन्म लिया। दूलो कितना खुश था। अपनी भेड़ें चरा-कर जब घर लौटता तो पत्नी उसकी बाट जोह रही होती।

समय को पंख लग गए थे।

गड़-गड़-गरड़ !

दूलो कांप गया। उस दिन भी ऐसे ही बारिश हो रही थी। दूलो शहर गया हुआ था। पत्नी बाहर गई थी—भेड़ें लेकर।

एक दिन बीता !

दो दिन बीते ! वह लौटी नही।

दूलो पगला गया। 'नहीं लौटी' बड़बड़ाता रहता।

फिर धीरे-धीरे बच्चों की परवरिश में खो गया। वही बच्चों की मां था. वही पिता !

काश ! वही साथ होती ! कसमसाकर रह गया दूलो ।

'मैं···मैं मर क्यों नहीं जाता !' अचानक वह बोला । फिर इधर-उधर देखकर वह एक पत्थर के सहारे बैठ गया ।

सारा दिन यों ही व्यतीत हो गया, सोचने लगा दूलो । दुकानदार भी अजीब है । कितनी-कितनी देर लगा देते हैं ।

'अभी ठहरो !' दुकानदार ने आदेश-भरे स्वर में कहा था ।

दूलो ठहर गया । उसके लिए समय की गति ठहर गई थी ।

दुकान के आगे लंबी पंक्ति लगी है ।

जान-पहचान वाले लोग आते हैं । राशन कार्ड आगे बढ़ाते हैं, उत्तर मिलता है, 'अभी लो सा'ब ।'

दूलो देखता है यह सब । मन में कशमकश-सी होती है । शायद अफसर होंगे । अफसर ही होगे जो सबसे पीछे आते हैं, पहले चले जाते हैं । इससे आगे वह नही सोच पाता ।

पास ही बच्चे 'लालीपॉप' चूस रहे हैं ।

दूलो को अच्छा लगा । सोचा, अपने बच्चों को भी कभी शहर लाऊंगा तो वे कितने खुश होंगे । कभी यह मांगेगे, कभी वह ।

भूख !

दूलो ने भूखे पेट पर हाथ फेरा ।

गुड़ खाने को मन हुआ ।

दुकान तक पहुंचा । ललचाई नजरों से गुड़ को देखा । मक्खियां भिन-भिना रही थीं । भाव पूछते ही हाथ थम गया, बोल नहीं पाया, शरम का मारा लौट आया ।

इतना महंगा गुड़ वह नहीं खा सकता था । जब से चीनी नहीं आ रही, दुकानदारों ने गुड़ का भाव दुगुना कर दिया ।

नल से पानी बह रहा है ।

दूलो पानी पीकर मुंह पर छींटे मार लेता है । मूंछों को सहलाता है ।

पास से फफियाती हुई एक कार निकल जाती है ।

'अरे, वे गए ।' कोई एक बोला ।

'ऐक्टर हैं, ऐक्टर !' दूसरा बोला ।

RSITY OF RAJASTHANIA UNIVE

'नदी किनारे शूटिंग होगी ।'

'शूटिंग होगी ! कैसे मजे से घूमते-फिरते हैं और यहां छः-छः घण्टे पंक्ति में खड़े होकर राशन लेना पड़ता है,' कोई जला-भुना गुनगुनाया ।

शूटिंग क्या होती है—सोचा दूलो ने । नदी किनारे शूटिंग होगी—खूनी नदी के किनारे—शूटिंग । जहां प्रतिवर्ष कोई न कोई ग्रामीण नदी में बह जाता है । मन में आया, कह दे—क्यों मरने की सोच रहे हो । क्या पता शूटिंग क्या होती है ? कुछ भी हो, मुझे इससे क्या ? इस भय से कि कहीं यह कोई अच्छी बात न होती हो, वह चुप ही रहा ।

नदी का पाट बड़ा चौड़ा है ।

पुल नही बन पाया । शायद बन जाए ।

चुनाव के समय तो यही शोर था—याद आया उसे ।

शोर !

शायद बन ही जाए ।

शूटिंग !

दुकान के आगे पंक्ति सिकुड़ती जा रही थी ।

'रिक्रूटिंग होगी ?' प्रश्नवाचक रूप में एक व्यक्ति ने पूछा जो दुकान से निकला था ।

'नहीं, शूटिंग ।'

दूलो को कुछ समझ में नहीं आया । 'रिक्रूटिंग' शब्द उसने सुन रखा था, क्योंकि एक दिन उनके गांव का एक फौजी ग्रामीणों को भारत-पाक लड़ाई के विषय में बता रहा था । इस शब्द का भी उसने प्रयोग किया था । दूलो को अचंभा हुआ कि अभी तक उसे वह शब्द याद था ।

काश ! मैं फौज में होता । खाने को तो पेट भर मिल जाता, सोचा दूलो ने । परंतु पढ़ा-लिखा होना भी तो आवश्यक है ।

बारिश बढ़ती जा रही थी ।

पंक्ति सरकती गई ।

दूलो संतुष्ट होता जा रहा था ।

पंक्ति के सभी व्यक्ति राशन ले चुके थे तो दूलो ने अपना राशन कार्ड आगे बढ़ा दिया था ।

'तुम बैठ नहीं सकते ?'

दूलो चुप, सहम गया। दुकानदार अन्नदाता है। नाराज हो गया तो ऐसे ही लौटना पड़ेगा।

अनाज मिलने लगा।

टन्···टन् टेलीफोन बज उठा।

टेलीफोन बज चुका···दुकानदार ने सुना। तभी ऊची आवाज में ग्राहकों से बोला, 'अभी-अभी संदेश मिला है, सिंगल अनाज जोन बन गए हैं। पंजाब से अनाज यहां नही आ पाएगा इसलिए अनाज आधा मिलेगा। क्या पता फिर कब अनाज आए !'

लोगों में खुसर-पुसर हुई। फिर शांत हो गए।

दूलो अनाज तुलवा रहा था।

एक कोने में खड़े दो-तीन व्यक्ति धीमी आवाज में कह रहे थे, 'हिमाचल में सरकार और है।'

'पंजाब में और है।' दूसरा बोला।

'जनता पिस जाएगी।' उदास-सा एक अन्य व्यक्ति बोला।

दूलो की समझ में कुछ नहीं आया। सरकार क्या होती है ? यहां कौन-सी है ? वहां कौन-सी है ? उसे क्या पता ? उसे तो इतना पता था कि आधे अनाज से उसके परिवार का आधा महीना भी नहीं निकलेगा। और खाने को मिलता भी क्या ? केवल अनाज ही तो है। चावल भी अब तो नहीं मिलते। इस बार उसके अपने खेतों में भी कुछ नहीं हुआ था।

शायद कुछ दिन बाद अनाज मिल जाए !

लेकिन

बारिश शुरू हो गई है। कौन आएगा, फिर सोचा उसने।

आना तो पड़ेगा ही।

बारिश भी आने दे।

नदी-नाले भी गर्मा जाते हैं। ओह !

दूलो सिहर उठा।

नदी का पानी घहराता जा रहा था। अंधेरा घुप्प। पानी के गिरते तार बिजली के प्रकाश में चमक उठते थे।

'कोई साथी होता तो कितना अच्छा था।' बोला वह।

अभी तो दम-खम है, सोचने लगा। शायद सुबह तक पानी उतर जाए।

गड़-गड़-गरड़ ! बिजली कौंधी।

पास से सरसराता कोई जानवर निकल गया।

सांप-वांप होगा। वह हिला-डुला नहीं। बरसात में सांप तो बीसियों घूमते-फिरते हैं।

उसने इधर-उधर देखा। कुछ दिखाई नहीं दिया।

दूर तीन मील पीछे शहर की बत्तियां चुंधिया रही थीं। वापस लौट चलूं, सोचा दूलो ने।

लेकिन

ऊबड़-खाबड़ रास्ते हैं।

वह कंपकंपा गया। कपड़े चिपचिपा गए थे।

अपना फटा-पुराना छाता अनाज पर ठीक तरह से रख दिया। बिजली की कौंध में उत्तर दिशा के पर्वत ऐसे लगे मानो बर्फ न रहने के कारण झुलस गए हों।

'अनाज !' वह बुदबुदाया।

'बच्चेऽऽऽ !' वह चीख पड़ा।

'किसी को अब भूखा नहीं मरने दिया जाएगा। गांव-गांव में स्कूल खोल दिए जाएंगे। सड़कों के जाल बिछा दिए जाएंगे'—उसे याद आया चुनाव के समय दिया गया एक नेता का भाषण !

'पिछड़े इलाकों का कायाकल्प हो जाएगा।'

'हुंः। हो जाएगा !' बोला दूलो।

'काश ! कोई मेरे पास होता,' वह कराह उठा।

तीसरे पहर कुछ बारिश रुकी।

दूलो थका-टूटा था — ऊंघने लगा।

अचानक गांव में हलचल मच गई। लोग इधर-उधर भागने लगे। कुछ भाग सकने में असमर्थ थे। जहां-तहां ढेरी हो गए। एक-दूसरे को नोचने लगे। जंगली जानवर भी अधमरे-से गांव में आ घुसे।

दूलो भागा एक ओर। जानवर पीछे-पीछे।

दूलो पसीना-पसीना हो गया। उभरे हुए पर्वत के साथ सटकर खड़ा हो गया। अब वह और अधिक चल नहीं सकता था। कम से कम वह किसी की भूख शांत करने में तो सहायक होगा। तभी पर्वत का एक भाग टूटकर उस पर गिर पड़ा।

दूलो डरकर जाग उठा। शरीर भारी-भारी लग रहा था। उसे लगा मानो वह हिलडुल नहीं सकेगा। लेकिन एकदम उसका हाथ अनाज की गठरी पर पहुंच गया। गठरी वहीं थी।

उसे कुछ तसल्ली हुई।

उस पार ! उस पार ! वह बोला। और अंधकार को चीरती उसकी नजर उस पार पर्वत पर बसे गांव पर टिक गई।

पानी अब भी बढ़ता जा रहा था।

अस्वीकार

विहंगम दृष्टिपात से ही मैं अधिकांश चेहरों को पहचान गया था। गत वर्ष भी मैं आया था। तब भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भव्य भवन का यही कमरा था। वही लम्बी-सी मेज अब भी आमने-सामने के लोगों को उनकी पारस्परिक दूरी महसूस करवाती हुई अजगर की भांति लेटी पड़ी थी। मेज के चौड़ाई बाले छोर पर वही सज्जन अब भी बैठे थे, बड़ी गंभीर एवं विचारपूर्ण मुद्रा में। उन्हें मैं कल सायं ही तो मिला था। वह आज की कार्यवाही के अध्यक्ष थे। उनके बाई ओर थोड़ी-सी नीची कुर्सी पर एक पतला-दुबला गौर वर्ण का लंबा-सा व्यक्ति ढेर से कागज लिए बैठा था। वह कभी ऐनक उतार लेता, कभी उसे पोंछने लगता तथा फिर अपनी नाक पर टिका लेता।

मेज के एक ओर कुर्सियों पर चार व्यक्ति विराजमान थे। इनमें से तीन वही थे, जो गत वर्ष भी इसी कार्यवाही के लिये उन्हीं कुर्सियों पर आसीन थे। सबसे बाई ओर ठिगने कद के सज्जन बंद गले का कोट पहने बैठे थे। उनके साथ वाले सज्जन थोड़ा पीछे रह गए थे। वह काम छोड़कर तिकड़मी अधिक हो गए थे। शरीर फूलने लगा था। शायद अपने-आपको मारधाड़ के लिए तैयार कर रहे थे। तीसरे सज्जन अपने ही विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष थे। उनसे मैं व्यक्तिगत रूप से परिचित था, परिचय को और बढ़ाना चाहता था, परंतु समय का लाभ नहीं उठा सका था। उन्होंने अपने सामने पानदान रखा हुआ था। एक बीड़ा मुंह में डाला हुआ था तथा उसे बड़े आराम से चबा रहे थे। उनकी बगल वाली सीट पर उन्हीं का हमशक्ल एक व्यक्ति था, जो गठे शरीर का था, थोड़ा लम्बा। कुल

मिलाकर तीसरे और चौथे नम्बर के व्यक्तियों में विभाजन रेखा खींचने में कम से कम मुझे कठिनाई हो रही थी। दोनों जुड़वां से लग रहे थे।

अभिवादन के पश्चात् अध्यक्ष का संकेत पाकर मैं चार दिग्गजों के सामने कुर्सी पर बड़े विश्वास से बैठ गया तथा जो लत्ता-पत्ता मैं अपने साथ चार सौ मील से उठाकर लाया था, उसे मैंने मेज पर रख दिया।

अध्यक्ष महोदय ने मुहारनी पढ़नी शुरू कर दी।

नाम : सूर्यनारायण, पिता का नाम : हरिनारायण पांडे, आयु : पैंतीस वर्ष, मैट्रिक : प्रथम श्रेणी, 70 प्रतिशत, इंटरमीडिएट : प्रथम श्रेणी, 65 प्रतिशत, बी०ए० : द्वितीय श्रेणी, 59 प्रतिशत, एम०ए० : द्वितीय श्रेणी, 55 प्रतिशत। उम्मीदवार एम०ए० अंग्रेजी भी है। एम०ए० (अंग्रेजी) : द्वितीय श्रेणी, 52 प्रतिशत। पी०एच-डी० (हिंदी) : कोई श्रेणी नहीं।

मुहारनी समाप्त होते ही एक नंबर के सज्जन ने मुझे दबोच दिया। दार्शनिक मुद्रा में उन्होंने प्रश्न किया, 'आप पांडे हैं या पांडेय ?'

'जी, मैं पांडे हूं।' मैंने उत्तर दिया।

'पहाड़ी हैं या मैदानी ?' सज्जन नंबर दो ने अंगड़ाई लेते हुए पूछा।

'मैदानी ?' मैंने कहा।

'मैदानी नहीं हो सकते ?' एक अस्वीकारात्मक हिलता हुआ सिर मैंने देखा।

'किस मैदान के ? बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश···कहां से हो ?' इस बार चार नंबर के सज्जन ने अपना प्रश्न विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। निश्चय ही वह विश्लेषणात्मक-आलोचना के दिग्गज होंगे, मैंने यह सोचा।

'पंजाब का ?' एक ने दूसरे की ओर देखा।

'असंभव।' दूसरे ने पहले का समर्थन किया।

'हरिद्वार से उठकर पंजाब में बैठ गए होंगे।' तीसरे विद्वान ने अपनी शोध-बुद्धि का परिचय दिया। वह इस स्वर में बोले, जैसे कोई विधवा दूसरे पति के घर में बैठ गई हो।

अब संधान के लिए संकेत मिल गया था, अतः मौलिक चिंतक एवं अनुसंधाना ने कहा, 'पांडे' शब्द की व्युत्पत्ति पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे ?'

मैं प्रश्न के लिए विशेष तैयार नहीं था। फिर भी विश्वस्त स्वर में मैंने कहा, 'मेरे विचार में 'पांडे' अथवा 'पांडेय' शब्द की व्युत्पत्ति 'पण' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है व्यापार।'

'तुम्हारा अभिप्राय है पंडे व्यापारी होते हैं ?'

'किस चीज के ?' नंबर एक।

'भांग के, सुलफे के ?' नंबर दो।

'सोने के, चांदी के ?' नंबर तीन।

'सोने-चांदी के तो स्मग्लर होते हैं ?' नंबर चार ने कहा।

वे सभी खिलखिलाकर हंस पड़े थे। अध्यक्ष एवं सहायक निर्जीव से बैठे थे। विद्वानों की विद्वता का अनुमान तो लग ही चुका था। मैंने ऐंठते हुए अपना मत व्यक्त किया, 'जी हां, पांडे धर्म के व्यापारी होते हैं।'

'कर्म के नही ?' ही-ही करते हुए नंबर एक के सज्जन ने पूछा। इस विजयोल्लास में वह कुर्सी से पांच-छः इंच उछल आए थे।

मैं कुछ नहीं कह सका। कोई उत्तर नहीं सूझा। अजीब आदमी हैं ये लोग, जो पंडे, पांडेय, पांडे में ही उलझकर रह गए हैं। पांडेय हैं या उपाध्याय, सिंह हैं या शर्मा, सलूजा हैं या बलूजा, फूल हैं या कांटे, पहाड़ का है या मैदान का, पंजाब का है या बिहार का, हिमाचल का है या बंगाल का— इन सबसे क्या अंतर पड़ता है ! और फिर विश्वविद्यालय में ? जिसे यूनिवर्सिटी कहा जाता है। जो यूनिवर्सिटी है, जो विश्व को अंगीकार करती है। मन में आया कि कह दूं— इन सब बातों से मुझे कोई सरोकार नहीं। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। काम की बात करो। फिर अपनी स्थिति का भान हुआ। क्या मेरे ऐसा कह देने से, चीखने-पुकारने से इन पर कोई प्रभाव होगा···नहीं-नहीं। यही सोचकर मैं चुप ही रहा था।

गत वर्ष भी मैं बड़ी आशा के साथ इसी स्थान पर चयन-समिति के समक्ष उपस्थित हुआ था। बड़ा सज-धजकर। बड़ी तैयारी के साथ। मैं किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता था। मैंने पूरे साहित्य का आलोड़न किया था।

अध्यक्ष ने आज की भांति ही मुहारनी पढ़ दी थी।

चयन-समिति के लोग कोई गंभीर साहित्यिक प्रश्न नहीं कर रहे थे।

अपनी ही हल्की-फुल्की बातचीत में अधिक व्यस्त थे। या फिर उम्मीदवार पर हंस लेते थे।

'तुम कहां से हो ?' उसने पूछा।

'पंजाब से।' मैंने कहा।

'पंजाब से क्यों ?' उसने पूछा।

'क्योंकि पंजाब में मेरा जन्म हुआ था। मेरे बाप-दादा पंजाब में ही थे।'

'पंजाब में थे अर्थात् वे उससे पहले कहां और भी थे। तो पंजाब के कैसे हुए ?'

'जी।' मैंने आश्चर्य से कहा।

'चलो पंजाब के ही सही।' एक विशेषज्ञ ने मेरा बचाव किया। मैं आश्चर्यचकित, मौन।

'इंटरव्यू तो हिंदी की पोस्ट के लिए हो रहा है, पंजाबी के लिए नहीं।' एक विशेषज्ञ ने साथ वाले विशेषज्ञ की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

दूसरे विशेषज्ञ ने मेरी ओर आग्नेय-बाणों से प्रहार किया। पूछा, 'शायद तुम्हें गलती से बुला लिया हो। इंटरव्यू पंजाबी के प्राध्यापकों के लिए नहीं है। तुम जा सकते हो।'

'मैं पंजाबी के लिए नहीं, हिन्दी के लिए आया हूं। मैंने हिंदी में पी० एच-डी० की है।' उन्होंने शायद अध्यक्ष की मुहारनी की ओर ध्यान नहीं दिया था।

'लेकिन पंजाबी वाला हिंदी में कैसे आ सकता है ?'

'मैं पंजाबी वाला नहीं, पंजाब का हूं। मैंने हिंदी का अध्ययन किया है।'

'तुम तो हिंदी भी पंजाबी में पढ़ाओगे। यह नहीं हो सकता।'

'मैं कई वर्ष दिल्ली में अंग्रेजी पढ़ाता रहा हूं। तब मुझे किसी ने नहीं कहा कि मैं अंग्रेजी पंजाबी में पढ़ाता हूं। अंग्रेजी पढ़ाने की अपेक्षा हिंदी पढ़ाना मेरे लिए निश्चय ही अधिक सुविधाजनक है।'

'अंग्रेजी तो कोई भी पढ़ा सकता है।' एक स्वर फूटा।

'अंग्रेजी पढ़ाते हो तो हिंदी में क्यों आ गए ? अंग्रेजी ही पढ़ाओ।

हिंदी पढ़ाने वाले और बहुत हैं।' दूसरे ने कहा।

'मेरी हिंदी में रुचि है। मैं पंजाब में या सभी अहिंदी-भाषी प्रांतों में हिंदी को लोकप्रिय बनाना चाहता हूं। मैंने ऐसा प्रण किया है, इसीलिए अंग्रेजी पढ़ाना छोड़ दिया है।'

'सब झूठ।' धीमे से एक सज्जन फुसफुसाया।

इसी प्रकार बहुत देर तक हिंदी, पंजाबी, अंग्रेजी आदि पर विवाद होता रहा था। साहित्यिक-चर्चा का प्रश्न ही उत्पन्न नही हुआ।

पंद्रह-सोलह उम्मीदवारों में से कोई भी पसंद नहीं आया था। बाद में पता चला था कि जिसके लिए यह पोस्ट थी, वह किसी कारण से आ नहीं पाया था। अतः चयन-समिति ने सभी उम्मीदवारों को अयोग्य घोषित कर दिया।

नियमानुसार लगभग छः मास के बाद पोस्ट का फिर विज्ञापन निकला। मैंने फिर प्रार्थना-पत्र भेज दिया। इस बार मैंने और भी अच्छी की थी। कुछ शोध निबंध भी इधर-उधर प्रकाशित हो गए थे। कुछ थों का अध्ययन भी कर लिया था।

चानक एक दिन पता चला कि इंटरव्यू हो रहा है दिल्ली में।

; तिथि निकट आ रही थी, परंतु बुलावा नही आया था।

तीक्षा के बाद भी बुलावा नही आया। मेरा उत्साह जाता रहा ।। आशा निराशा में परिणत हो गई। दो-तीन दिन यों ही व्यतीत हो गए। तब मुझे लगा, मुझे यों ही नहीं बैठना चाहिए। मुझे प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रयास के फलस्वरूप मैं कल सायं अध्यक्ष से उनके अस्थायी निवास पर मिला। अभिवादन की औपचारिकता पूरी हुई तो उन्होंने कहा, 'मैंने आपको कहीं देखा है। लेकिन···।'

'जी, मैं आपके विश्वविद्यालय में एक कॉलेज मे पढ़ाता हूं।'

'आपका नाम ?' उन्होंने पूछा।

'सूर्यनारायण पांडे।' मैंने बतलाया।

'अच्छा, आप फगवाड़ा में हैं ?' उन्होंने कहा।

'जी।' मैंने उत्तर दिया।

'यहां कैसे आए ?' उन्होंने पूछा।

'जी, आपसे मिलने।' मैंने कहा।

'मुझसे मिलने ! कहिए।' उन्होंने कहा।

'जी लुधियाना के स्नातकोत्तर केंद्र के लिए हिंदी के प्राध्यापक का इंटरव्यू कल हो रहा है।'

'फिर ?' उन्होंने पूछा।

'मैंने भी इस पोस्ट के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा था, परंतु मुझे इंटरव्यू के लिए नही बुलाया गया।'

'मिस्टर पांडे। नही बुलाया गया तो क्या हुआ ? यदि सौ प्रार्थी हों, तो क्या सौ को ही बुला लिया जाएगा ?'

'सर, मैं यूनिवर्सिटी का इंटर्नल कैण्डीडेट हूं। मैं यहां दस वर्ष से पढ़ा रहा हूं।'

'तुम पी-एच० डी० हो ?'

'जी हां।' मैंने कहा।

'मैट्रिक से एम० ए० तक के डिवीजन बोलो।'

मैंने तुरंत मुहारनी पढ़ दी।

'हमने वास्तव में ऐसे प्रत्याशियों को बुलाया है जो पी-एच० डी० हैं तथा जिनका सवा दस साल का अनुभव है।'

'सर !' मैं गिड़गिड़ाया।

'तुम इतनी दूर इसी काम के लिए आए हो ?' वह पसीज गए लगते थे।

'जी हां।' मैंने कहा।

उन्होंने बिना कुछ कहे एक कागज उठाया, उस पर कुछ लिखा तथा मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'कल समय पर आ जाना। इंटरव्यू हो जाएगा, लेकिन यह न सोचना कि तुम्हारी नियुक्ति हो जाएगी।'

मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। मैं कृतज्ञ-भाव से नमस्कार करके लौट आया था।

पांडे शब्द की व्युत्पत्ति पूछ लेने पर विशेषज्ञ ने प्रश्न किया, 'पांडे जी, मैट्रिक के बाद आपकी श्रेणियों में गिरावट आती गई। क्यों, ठीक है ना ?

'परिस्थितियां प्रतिकूल होती गईं।' मैंने कहा।

वे सब मेरी मूर्खता पर हंस दिए। उन्हें मेरा तर्क निराधार लगा था।

'पी-एच० डी० में तो कोई श्रेणी नहीं है ?'

'जी नहीं ।' मैंने कहा ।

'तृतीय श्रेणी ही समझो फिर तो ।' नबंर एक ने निर्णय दिया ।

'क्यों ?' मैंने प्रतिवाद किया, 'मैं पढ़ते-पढ़ते मर गया और···।'

'क्यों क्या ? मैट्रिक से एम० ए० तक पहुंचते-पहुंचते आपके अंक 52 प्रतिशत तक नीचे आ गए । हर परीक्षा में आपके अंक चार से छः प्रतिशत कम होते गए । इसी गणना के अनुसार पी-एच० डी० में आपके अंक अड़तालीस प्रतिशत से अधिक किसी भी दशा में नहीं हो सकते ।' उन्होंने गणनात्मक अनुसंधान के बल पर कहा ।

'आचार्य प्रवर · ने मेरे शोध-प्रबंध की मुक्त कंठ से प्रसंसा की है । वे मेरे बाह्य परीक्षक थे ।

'होंगे ।' उसने कहा ।

'कोई बात नही ।' दूसरे ने कहा ।

'यह मोटा-सा ग्रंथ क्या है ?'

'मेरा शोध-प्रबंध । लीजिए देखिए ।' मैंने शोध-प्रबंध आगे करना चाहा ।

'बस-बस । बहुत देखे हैं । यही तो काम करते हैं । (प्रोफेसर अथवा विभागाध्यक्ष हो जाने पर पढ़ने-पढ़ाने की तो जरूरत ही नहीं पड़ती । बस, ग्रंथ को देखकर, दूर से सूंघ कर ही उसका विश्लेषण कर लेते हैं ।)

मुझे निराशा हुई, परंतु क्या कर सकता था ।

'बहुत मोटा ग्रंथ है ।' एक ने कहा ।

'जी, यह तो 300 पृष्ठ से भी कम है । प्रायः 500 पृष्ठ के प्रबंध होते हैं ।'

'छोटा कहां है ? इतना तो मोटा है । जानते हो, एक थीसिस जांचने के लिए पैसे कितने मिलते हैं—कुल पचहत्तर रुपए ।'

'यह उसी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० होगा ।' एक विशेषज्ञ ने दूसरे विशेषज्ञ से कहा—घृणात्मक स्वर में ।

मैं चुप । क्या कहता ।

यह यूनिवर्सिटी तो डिग्रियां बांटती ही रहती है । छोले (चने) देकर डिग्री ली तो क्या डिग्री !

'सर ! आपने शोध-प्रबंध देखा तो है नहीं और अपना मत प्रकट कर दिया। मैंने अकविता पर काम किया है तथा अनेक नए निष्कर्ष निकाले हैं। धुरंधर विद्वानों ने जो अकविता के विषय में मत प्रचारित किए हैं वे अप्रामाणिक, असंगत एवं निराधार सिद्ध हुए हैं। मेरे शोध-प्रबंध से, साहित्य के इतिहास को नई दिशा मिलेगी।' मैं आवेश में और भी बहुत कुछ कहता चला गया होता यदि बीच में ही किसी ने टोक न दिया होता।

'सब ऐसे ही कहते हैं। जल्दी ही जोश ठंडा हो जाएगा।'

'मैंने डिग्री छोले देकर नहीं. श्रम करके ली है।'

'अच्छा, अच्छा। तुम्हारा विषय क्या था ?'

'हिन्दी अकविता में बिम्ब-विधान।'

'अकविता ?'

'जी हां, अकविता।'

'जब हम हिंदी के साहित्य का इतिहास पढ़ते थे, तब तक अकविता नाम की कोई चीज नहीं थी। जो कविता ही नहीं, उसमें बिम्ब-विधान कैसे और कहां से आ गया ?' नंबर एक ने कुछ सोचते हुए कहा।

'पुरानी कविता का विकसित रूप ही अकविता है शर्माजी।' नंबर दो ने धीमे से नंबर एक के अज्ञान को दूर किया।

'अकविता पर कुछ दिन पहले एक पुस्तक छपी थी। मुझे नाम भूल गया। उसका नाम···' तीसरे विशेषज्ञ ने अपना ज्ञान बघारा। उन्होंने अभी-अभी प्रकाशित पुस्तक 'अकविता : एक विवेचन' की भूमिका लिखी है।'

'पुस्तक का नाम है— अकविता : एक विवेचन' मैंने कहा—'इस पुस्तक में पुराने निष्कर्षों को ही नए, परंतु आकर्षक शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में इसमें···।'

'बस, इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। पुस्तक का नाम ही काफी है।'

मैं उनकी उदारता पर मुग्ध हो गया।

अध्यक्ष महोदय अब तक चुप बैठे थे। शायद बोर हो गए थे। बोले, 'मेरे विचार से आपने बहुत प्रश्न पूछ लिए हैं। इतना ही पर्याप्त होगा।'

'बस, एक प्रश्न और।' एक विशेषज्ञ ने कहा।

PUNJAB UNIVERSITY

'हां-हां, पूछिए।' अध्यक्ष ने अनुमति दी।

'ये शोध-निबंध, यह पुस्तक आदि तो देख लें। मैंने अनुनय-विनय के स्वर में कहा।

'सब देख लिया। हम तो बातचीत से ही सब भांप जाते हैं। आप निश्चित रहें।' कहकर उन्होंने मुझे जाने का संकेत किया।

मैंने तुरंत अपने बिखरे हुए कागज-पत्र उठाए तथा बाहर आ गया। एक बार फिर लगा कि कन्या दुल्हन बनते-बनते रह गई।

मेरे मुंह में बहुत थूक जमा हो गया था। बाहर निकलते ही मैंने उसे थूक दिया।